जेएनयू का सच

शंकर शरण





प्रकाशक

भारतीय विचार मंच

२०३, शेफाली शोपिंगसेन्टर, पालडी, अहमदाबाद–३८० ००६

फोन : ०७९–२६५८०५१७

Web : www.vichar.org, Email : bvmguj@gmail.com

प्रथम आवृत्ति

महाशिवरात्री, युगाब्द ५११७

७ मार्च, २०१६

प्रत : १०००

मूल्य : रु. २०/-

मुद्रण

नूतन आर्ट

मो. ९८२४९२०१४७

अनुक्रमणिका

जेएनयू का जन्म–विकार

दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय (जेएनयू) की शुरुआत ही एक तरह के विचलन या स्यात् घोटाले के साथ हुई थी। इसके संस्थापकों की सहमति लिए बिना इसे वह रूप दे दिया गया, जो मूल परिकल्पना से बिलुकल भिन्न था। सन १९६०–७० वाले दशकों मे इंदिरा गाँधी की निकटवर्ती रहीं राज थापर, जो प्रसिद्ध अकादमिक पत्रिका 'सेमिनार' की संस्थापक–संपादक भी थीं, ने अपनी आत्मकथा में इस का उल्लेख किया है।

नेहरूजी के निधन के बाद जब इंदिरा गाँधी उनकी स्मृति में कुछ करने की योजनाएं बना रही थी, तो एक विश्वविद्यालय भी बनाने का सुझाव राज के पति रोमेश थापर ने ही दिया था। यह १९६४–६५ की बात है। राज के अनुसार, बहुत सोच–विचार कर रोमेश ने एक ऐसे उत्कृष्ट संस्थान की कल्पना की जहाँ देश–विदेश से स्कॉलर आकर तीन महीने से तीन वर्ष तक रहेंगे, और शान्ति से विचार–विमर्श कर सकेंगे।... अंततः तय हुआ कि दक्षिण दिल्ली में बनने वाले विश्वविद्यालय का नाम जवाहरलाल नेहरू यूनिवर्सिटी रखा जाए, जहाँ भाषा अध्ययन के सिवा सभी कोर्स स्नातकोत्तर रखे जाएंगे, और गुणवत्ता का ध्यान रखा जाएगा। इसे भविष्य का मॉडल बनना था ! (राज थापर, ऑल दीज इयर्स, पृ. २३८)।

राज थापर ने जेएनयू बनने के बीस–बाइस वर्ष बाद अपनी आत्मकथा लिखी। अजीब बात है कि उन्होंने इस का उल्लेख क्षोभ के साथ किया है, कि नेहरू स्मृति पुस्तकालय बना, और, अफसोस, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय भी बन गया। (वही, पृ. २३९)। उक्त कथन में 'गुणवत्ता' और 'मॉडल' भी व्यंग्यात्मक रूप में लिखा गया है। यहाँ स्पष्ट नहीं कि राज ने जेएनयू के प्रति यह वितृष्णा क्यों दिखाई, तथा उस के बनने का उल्लेख भी अफसोस से क्यों किया, किन्तु आगे एक–दो विवरणों से कारण झलकता है। एक तो यह कि यह वह संस्थान नहीं हो सका जिस की कल्पना की गई थी, बल्कि एक बड़ी मामूली चीज भर बना।

जेएनयू बनाने के निर्णय के बाद इंदिरा गाँधी जल्द ही प्रधानमंत्री बन गईं। उनके प्रमुख सचिव पी. एन. हक्सर पुराने मार्क्सवादी थे। उन्होंने अकादमियों, उच्च पदों और नियुक्तियाँ करने वाले पदों पर अनेक मार्क्सवादियों की नियुक्ति की। उस में योग्यता का भी ध्यान नहीं रखा जाता था। यहाँ तक कि एक बार किसी की नियुक्ति पर एतराज करने पर हक्सर ने रोमेश को हँसी में कहा भी था कि 'मूर्ख और मार्क्सवादी' होना किसी को राजदूत बनाने के लिए अच्छी योग्यता है! बहरहाल, राज के अनुसार, हक्सर नौकरी चाहने वाले वामपंथियों से घिरे रहते थे...जो उन के दरबार में मार्क्सवादी शब्दावली में बातचीत करते थे। उन तमाम नियुक्तियों के पीछे वैसे लोगों को स्थान देने के साथ यह मंसूबा भी था कि ऊपर से समाजवादी परिवर्तनों को अंजाम दिया जाएगा। अनेक पुराने मार्क्सवादी राज और रोमेश थापर के कंधों पर चढ़कर अकादमियों, मंत्रालयों, में पहुँचे थे। राज के शब्दों में, हम उन की सीढ़ियाँ थे।

इस के बाद राज थापर ने १३ जुलाई १९७३ को अपनी डायरी में जेएनयू की एक घटना का उल्लेख किया, जेएनयू के छात्रों ने पार्थसारथी (वाइस चांसलर) का घेराव किया, वे विश्वविद्यालय की एडमिशन कमिटी में प्रतिनिधित्व की माँग कर रहे थे। छात्रों ने दस घंटे उन्हें (पार्थसारथी को) बंद रखा। निस्संदेह, उन सबको विश्वविद्यालय से निकाल देना चाहिए था, पर उलटे बातचीत शुरू की गई। रोचक है कि इन पंक्तियों से ठीक पहले राज ने, उसी तारीख में, यह लिखा हैः 'कांग्रेस का मुस्लिम लीग के साथ अवसरवादी गठबंधन पूरी व्यवस्था पर भारी पड़ेगा और इसे मुश्किल में डाल देगा। लीग इतिहास के मिथ्याकरण की माँग कर रही है, कि १९४७ में देश के विभाजन में उस की भूमिका को (पाठ्य-पुस्तकों से) हटा दिया जाए और सरकार इस के लिए राजी हो गई है।' (पृ. ३५९)

यह काम किनके माध्यम से हुआ, यह लेखिका ने नहीं लिखा। किन्तु जेएनयू के नामी मार्क्सवादी इतिहासकारों द्वारा ही वह सब मुस्तैदी से संपन्न किया गया, यह जग-जाहिर है। इस के बाद राज ने जेएनयू का एक उल्लेख और किया है, जो मनमानी या घोटाले का संकेत करता है। यह भी १९७३ की ही घटना है। जेएनयू के वाइस चांसलर जी. पार्थसारथी और डॉ. कर्णसिंह ने आपस में ही तय करके जवाहरलाल नेहरू फंड की बहुत बड़ी रकम उच्च शिक्षा को समर्पित कर दी, जिस में जेएनयू को विशेष स्थान दिया गया। रोमेश को पता चला तो वह भड़क उठे, क्योंकि फंड के कार्यों में इसे प्राथमिकता नहीं थी। इस पर क्षोभ व्यक्त करते हुए राज थापर लिखती हैं कि इस से पता चलता है कि यह कितना पतित हो सकता है, जब अवैध हो (हाउ ग्रोवेलिंग इट बिकम्स ह्वेन इन्सेस्च्युअस)। (पृ. ३६९) अर्थ की दृष्टि से इस का दूसरा अर्थ यह हो सकता है, कि बहुत निकट के लोग जब गड़बड़ी करते हैं तो स्थिति

दयनीय हो जाती हैं, यानी आप उन के साथ कोई कठोरता नहीं कर सकते ।

इस प्रकार, स्थापित होने के चार वर्ष के अंदर ही बिना अनुमति लिए धन का मनमाना ढेर अनुचित रूप से जेएनयू की ओर मोड़ा जाने लगा । इस पर जितने कड़े शब्दों (निकट लोगों का गिड़गिड़ाना – ग्रोवेलिंग, इन्सेस्चुअस) का प्रयोग राज थापर ने किया है, उससे स्थिति का अनुमान होता है ।

इस प्रकार, शुरू से ही जेएनयू मामूली संस्थान बना, जहाँ मूल उद्देश्य और गुणवत्ता की बात साफ भुला दी गई । उसे काफी पैसा दिए जाने की परंपरा बन गई । अनेक कम्युनिस्टों को ऊँचे पदों पर नियुक्ति मिली । वामपंथी प्रोफेसरों ने मजे से उच्च–शिक्षा के नाम पर राजनीतिक प्रचारात्मक लेखन, शिक्षा चलाना शुरू कर दिया । उन्होंने मौके का भरपूर फायदा उठाया । वर्ग–हित, पार्टी–हित, सोवियत–हित का जो मार्क्सवादी–लेनिनवादी सिद्धांत उन्होंने सीखा था, उसी को वे जेएनयू के माध्यम से लागू कर रहे थे । तब विश्व–कम्युनिज्म की निरंतर उन्नति और जल्द ही सारी दुनिया में कम्युनिस्ट राज होने के अंधविश्वास का दौर था । वे प्रोफेसर वैसे ही अंधविश्वासी थे, जिस की पुष्टि उन के लेखन और भाषणों ने की । इन सब से, उच्च शिक्षा की उन्नति की बजाए शिक्षा का दयनीय राजनीतिकरण भर ही हुआ । इसने भारत की राजनीति पर भी नकारात्मक प्रभाव डाला ।

बाद में प्रसिद्ध राजनीति शास्त्री रजनी कोठारी ने लोकतंत्र पर खतरे पर लिखते हुए जेएनयू का उल्लेख इसी रूप में किया था । टाइम्स ऑफ इंडिया (२२ सितंबर १९९५) में एक लेख में कोठारी ने लिखा, कि इंदिरा गाँधी के शासन काल, १९६६–१९७७ तथा १९८०–८४ में वामपंथियों ने न केवल राजनीति में बल्कि शैक्षिक–तकनीकी संस्थाओं, सरकारी और अर्ध–सरकारी समितियों, संसद की अंदरूनी समितियों, तथा मीडिया के बड़े हिस्से तथा महत्त्वपूर्ण अकादमिक पत्रिकाओं पर भी राजनीतिक प्रभाव बनाने का बड़ा अभियान चलाया जो उन के नियंत्रण में आ गए थे । आखिर, स्तालिनवादी दृष्टि में बौद्धिक–शैक्षिक क्षेत्र अत्यधिक महत्वपूर्ण रहे हैं... इस बीच, देश धीरे–धीरे सोवियत फंदे में फंसने लगा, जिसके अपने आदमी, शोध संस्थान और अनुदान एजेंसियाँ थीं जिन्होंने अनेक बुद्धिजीवियों तथा नौकरशाहों को अपनी ओर करने का दबाव डाला । इस क्रम में कोठारी ने जेएनयू, दिल्ली विश्वविद्यालय और अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, तीनों का उल्लेख किया ।

यदि मित्रोखिन अभिलेखों का स्मरण करें, तो अधिक स्पष्ट होगा कि सोवियत गुप्तचर संस्था के.जी.बी. ने भारत में कितना विस्तृत सरंजाम फैला रखा था । निस्संदेह, जेएनयू उस से बाहर नहीं था ।

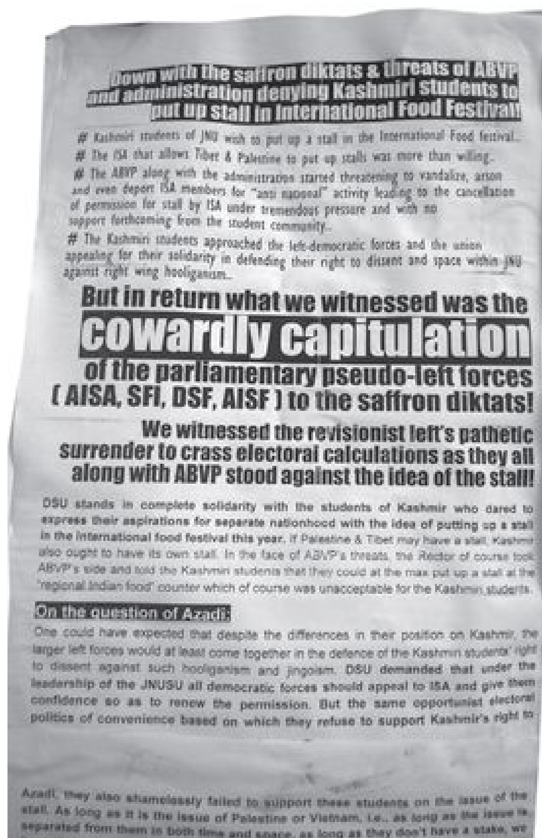
●

भारत–विरोधी मानसिकता का चलन

अतः यह संयोग नहीं कि जेएनयू से आज तक किसी चर्चित पुस्तक लिखे जाने, कोई नया शोध होने, विशेष अध्ययन, आविष्कार, जैसा कोई समाचार सुनने को नहीं मिला है। बल्कि साहित्य, कला, खेलकूद, रंगमंच, या नीति, कूटनीति–निर्माण में भी वहाँ से कोई उल्लेखनीय योगदान नहीं मिला। यहाँ तक कि वहाँ से कोई जानी–मानी शोध–पत्रिका या सामान्य विद्वत् पत्रिका तक प्रकाशित नहीं हो सकी जिसे कोई पढ़ना आवश्यक समझे। जबकि वह देश भर में केंद्र सरकार से प्रति छात्र और प्रति अध्यापक सर्वाधिक अनुदान पाने वाला विश्वविद्यालय है! तब इस विश्वविद्यालय ने आज तक किया क्या है?

कितनी शर्मनाक बात है कि तीन–चार वर्ष पहले जब एक अखबार के संवाददाता ने जेएनयू की चार दशक की उपलब्धियों के बारे में पूछा, तो वहाँ के एक बड़े अधिकारी का उत्तर था कि अब तक सिविल सर्विस में इतने छात्र वहाँ से चुने गए। वे कोई और उपलब्धि नहीं गिना पाए! क्या इसीलिए वह विश्वविद्यालय बना था कि वहाँ सिविल सर्विस की तैयारी करने या माओवादियों, जिहादियों तथा विविध देशद्रोही, विभाजक और तरहतरह की रेडिकल राजनीतिबाजी के आरामदेह अड्डे बनें!

वस्तुतः यह दोनों बातें ज्ञान–चिंतन में योगदान का अभाव और राजनीतिबाजी एक–दूसरे की पूरक हैं। दोनों मिलकर एक दुष्चक्र बनाते हैं। जेएनयू में राजनीतिक एक्टिविज्म कक्षा से बाहर नहीं, समाज विज्ञान और मानविकी विषयों के सिलेबस और पाठ्यसूची में भी है। यही कारण है कि वहाँ हर तरह के रेडिकलिज्म को फौरन जमीन मिल जाती है। तभी केवल विचित्र या भारत–विरोधी राजनीति के समाचारों से ही जेएनयू चर्चा में आता है। संसद पर हमला करने वाले जिहादी आतंकवादी मुहम्मद अफजल को हीरो बनाना उसी परंपरा की नई कड़ी



Down with the saffron diktats & threats of ABVP and administration denying Kashmiri students to put up stall in International Food Festival!

Kashmiri students of JNU wish to put up a stall in the International Food festival..
The ISA that allows Tibet & Palestine to put up stalls was more than willing..
The ABVP along with the administration started threatening to vandalize, arson and even deport ISA members for "anti national" activity leading to the cancellation of permission for stall by ISA under tremendous pressure and with no support forthcoming from the student community..
The Kashmiri students approached the left-democratic forces and the union appealing for their solidarity in defending their right to dissent and space within JNU against right wing hooliganism..

But in return what we witnessed was the cowardly capitulation of the parliamentary pseudo-left forces (AISA, SFI, DSF, AISF) to the saffron diktats!

We witnessed the revisionist left's pathetic surrender to crass electoral calculations as they all along with ABVP stood against the idea of the stall!

DSU stands in complete solidarity with the students of Kashmir who dared to express their aspirations for separate nationhood with the idea of putting up a stall in the international food festival this year. If Palestine & Tibet may have a stall, Kashmir also ought to have its own stall. In the face of ABVP's threats, the Rector of course took ABVP's side and told the Kashmiri students that they could at the max put up a stall at the 'regional Indian food' counter which of course was unacceptable for the Kashmiri students.

On the question of Azadi:

One could have expected that despite the differences in their position on Kashmir, the larger left forces would at least come together in the defence of the Kashmiri students' right to dissent against such hooliganism and jingoism. DSU demanded that under the leadership of the JNUSU all democratic forces should appeal to ISA and give them confidence so as to renew the permission. But the same opportunist electoral politics of convenience based on which they refuse to support Kashmir's right to

Azadi, they also shamelessly failed to support these students on the issue of the stall. As long as it is the issue of Palestine or Vietnam, i.e., as long as the issue is separated from them in both time and space, as long as they don't have a stake, we

है। इस से पहले लोकसभा चुनाव के दौरान समाचार आए थे कि जेएनयू से छात्र और प्रोफेसर दल बनाकर बनारस में नरेंद्र मोदी के विरुद्ध प्रचार करने गए थे। यह किस प्रकार की गतिविधि है?

जेएनयू से प्रायः समाजविरोधी/देशद्रोही समाचार आते हैं। जैसे, इस से पहले समाचार आया था कि कुछ छात्रों ने सामूहिक रूप से गोमांस भक्षण समारोह आयोजित किया। उस से पहले वहाँ एक बार कारगिल युद्ध लड़ने वाले भारतीय सैनिकों को इसलिए पीटा गया क्योंकि उन्होंने वहाँ एक मुशायरे में चल रही भारतनिंदा का विरोध किया। वे सैनिक वहाँ किसी से मिलने गए थे, जब मुशायरा चल रहा था। यह तब की बात है, जब कारगिल युद्ध हुए एक साल ही हुआ था। देश की वह निंदा सुनकर सैनिकों को दुःख हुआ, उन्होंने विरोध किया और पीटे गए। इसी तरह, कुछ पहले दंतेवाड़ा में माओवादियों द्वारा सत्तर सुरक्षा-बल जवानों की एकमुश्त हत्या का समाचार आया, तो जेएनयू में जश्न मनाया गया। एक बार मोहाली के भारत-पाकिस्तान क्रिकेट मैच के दौरान जेएनयू में भारत के विरुद्ध नारे लगाए गए। मैच में भारत की जीत पर खुशी मनाने वालों पर हमला किया गया। एक अन्य प्रसंग में, अशोकस्तंभ वाला राष्ट्रीयचिन्ह जूते के नीचे मसले जाते पोस्टर लगाए गए। दुर्गापूजा के अवसर पर 'महिषासुर दिवस' मनाया गया, जिस में देवी दुर्गा के बारे में अशोभनीय बातें कही गईं। महिषासुर को दलित बताकर दलित छात्रों को हिन्दूविरोधी बनाने के लिए यह विचित्र कर्मकांड किया गया। आदि, आदि।

उक्त सभी घटनाओं में एक ही सूत्र समान है भारत के प्रति घृणा और हिन्दूधर्म का विरोध। क्या यह सामान्य भाव है अथवा अभिव्यक्ति स्वतंत्रता है, जिस पर कोई विशेष चिन्ता नहीं करनी चाहिए?

•

अभिव्यक्ति स्वतंत्रता या गालीगलौच ?

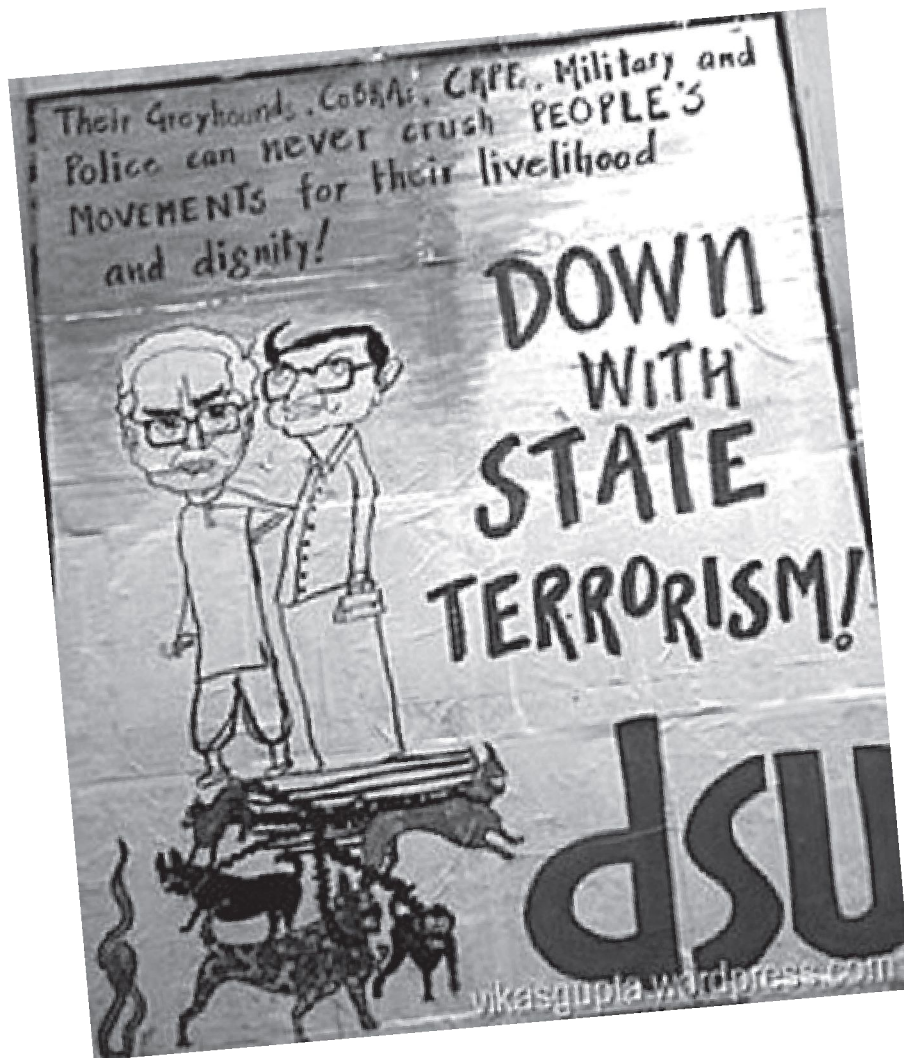
यह अभिव्यक्ति स्वतंत्रता का मामला नहीं, बल्कि एकतरफा जबर्दस्ती है । नहीं तो उन सैनिकों को पीटा नहीं जाता । वस्तुतः जेएनयू में हर तरह के, देशी–विदेशी, भारतनिंदकों को ही सम्मानपूर्वक मंच मिलता रहा है । जबकि दूसरी ओर, देश के गृह मंत्री (पी. चिदम्बरम) को बोलने नहीं दिया जाता । यहाँ तक कि उन के आगमन के प्रस्ताव के विरुद्ध आंदोलन होता है! यह कोई अपवाद या नई बात नहीं । छत्तीस वर्ष पहले, वहाँ देश के प्रधानमंत्री (इन्दिरा गाँधी) को भी बोलने नहीं दिया गया था । वैसा करने वाले कम्युनिस्ट छात्र ही थे । जबकि उसी समय लेनिन, स्तालिन, माओ और यासिर अराफात जैसों के लिए जेएनयू के अनेक प्रोफेसर और छात्र मिलकर आहें भरा करते थे । उस समय जिन छात्रों ने इंदिरा गाँधी को जेएनयू कैंपस आने से रोका, उन में कई आज वहाँ प्रोफेसर नियुक्त हैं!

अतः जेएनयू में भारतविरोधी, हिन्दूविरोधी राजनीति कोई अभिव्यक्ति स्वंतत्रता का मामला नहीं । क्योंकि वहाँ देशभक्त स्वरों को वही अभिव्यक्ति अधिकार नहीं मिलते! स्वामी रामदेव और सुब्रह्मण्यम स्वामी का वहाँ स्वागत नहीं किया जाता, जब कि दोनों ही अपने–अपने क्षेत्र में ज्ञान–संपन्न हैं । साथ ही उन की देशसेवा अप्रतिम है । किन्तु उन के जेएनयू आगमन के समाचार पर वही छात्र संगठन आंदोलन और धमकी का प्रयोग करते हैं । एक बार अरुण शौरी के व्याख्यान में वामपंथी छात्रों ने सभा में शौरी के प्रति उत्तेजक और गाली–गलौज की भाषा का प्रयोग कर उन्हें बोलने से रोकने की कोशिश की । इधर हाल में, एक सेमिनार में योगेन्द्र यादव के विरुद्ध इतना शोरशराबा किया गया कि उन्हें अपनी बात घुमा–फिराकर वापस लेनी पड़ी । बात क्या थी? सिर्फ यह कि यादव ने कश्मीर के भारतीय मुख्यधारा में जुड़ने का संकेत किया था और इस पर खुशी जाहिर की थी ।

इसलिए, जेएनयू में वामपंथी छात्र संगठनों या प्रोफेसरों द्वारा अभी

अभिव्यक्ति स्वतंत्रता की दुहाई देना दोहरी धूर्तता है। वे स्वयं दूसरों को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता नहीं देना चाहते। कभी जोरजबर्दस्ती, तो कभी गालीगलौच कर भिन्न विचार वालों को बोलने देने या जेएनयू आने से ही रोकते रहे हैं। इसलिए, यह अभी वे अभिव्यक्ति स्वतंत्रता का तर्क केवल अपनी देशद्रोही, समाजविघटनकारी करतूतों के बचाव के लिए दे रहे हैं। उन का आज तक कोई रिकॉर्ड नहीं कि जेएनयू में किसी मुद्दे पर सभी विचारों के विभिन्न विद्वानों को निमंत्रित करें, और सब को सुन कर अपनी जानकारी, समझ बढ़ाएं। यह केवल गोष्ठी, सेमिनार ही नहीं, स्वयं पाठ्यक्रम, पाठ्य–सूची आदि में भी किया गया है। विषय़ के लिए कितना भी महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, किसी विपरीत विचार के विद्वान को वे पुस्तक–सूची में भी शामिल नहीं करते, उन्हें पढ़ना–पढ़ना तो दूर रहा। यह सीधे–सीधे अनजान छात्रों को अपने मतवाद में फाँसने का तरीका है, शिक्षा नहीं।

उदाहरण के लिए, सर्वविदित है कि अयोध्या में मंदिर–मस्जिद विवाद में जेएनयू इतिहासकारों ने सक्रिय रुचि ली थी। इस विषय पर, तथा 'सांप्रदायिकता बनाम सेक्यूलरिज्म' पर वे लंबे समय से बहस, प्रचार, आदि चलाते रहे हैं। किन्तु इन से संबंधित विषय पर उन के द्वारा बनाए गए पाठ्य–क्रमों और पुस्तक–सूचियों में सीताराम गोयल या कोएनराड एल्स्ट की एक भी पुस्तक का उल्लेख नहीं है। न इतिहास, न राजनीति शास्त्र संबंधी सूचियों में। जब कि दोनों विश्व–प्रसिद्ध विद्वान हैं, जिन के लेखन का हार्वर्ड विश्वविद्यालय, जैसे उत्कृष्ट संस्थानों के विद्वानों ने भी उपयोग किया है। मंदिर–मस्जिद वाले विषय पर सीताराम गोयल की 'हिन्दू टेम्पल्सः ह्वाट हैपेन्ड टु देम?' (दो खंड) मौलिक ग्रंथ हैं। तब मंदिर–विवाद पर ही पढ़ाते, लिखते, भाषण देते जेएनयू प्रोफेसरों ने इन पुस्तकों को क्यों लुप्त रखा? केवल इसलिए, क्योंकि इन के तथ्य और निष्कर्ष प्रामाणिक होते हुए भी इन प्रोफेसरों की प्रचार–लाइन से भिन्न हैं। इस प्रकार, जेएनयू के छात्रों ने अभिव्यक्ति स्वतंत्रता को एक मतवादी, तानाशाही, एकतरफा प्रचार में बदलने की कला अपने प्रोफेसरों से ही सीखी है। दोनों ने सभी वामपंथी संगठनों के साथ मिल कर सच्चे अध्ययन, शोध और विचार–विमर्श को कुंठित, पंगु और विकृत बनाने का ही काम किया है। उनके प्रेरक मुख्यतः पुराने कम्युनिस्ट नेता रहे हैं, जिन्होंने एक संपूर्ण गाली–शास्त्र की रचना की है। सभी जानते हैं कि यदि आप भिन्न विचार वाले को गाली देंगे, तो विमर्श असंभव हो जाता है। यह दोतरफा अभिव्यक्ति एवं संवाद रोकने, तथा केवल अपनी मनमानी चलाने का पुराना अस्त्र है।



अतः अभी जेएनयू के वामपंथी छात्र और प्रोफेसर बारबार मोहनराव भागवत, नरेंद्र मोदी, स्वामी रामदेव, सुब्रह्मण्यम स्वामी जैसे प्रतिष्ठित देशभक्तों, समाजसेवियों को सांप्रदायिक, फासिस्ट, बिका हुआ, हिन्दू बकवादी, आदि कहते हैं तो यह नई बात नहीं। यह तो उसी क्लासिक कम्युनिस्ट परंपरा की अटूट कड़ी है, जिस में महात्मा गाँधी को 'अंग्रेजों का दलाल', पूँजीवाद का धूर्त गुंडा, घृणित गद्दार, आदि कहा गया था। रवीन्द्रनाथ टैगोर को वेश्याओं का दलाल , नेहरू को 'अमेरिकी साम्राज्यवाद का दौड़ता कुत्ता', सुभाष चंद्र बोस को (जापानी तानाशाह) तोजो का कुत्ता कहा गया था। यह सब कहने वाले बड़े कम्युनिस्ट नेता थे, जो वर्तमान जेएनयू छात्र संघ अध्यक्ष के संगठन के ही प्रेरक–विचारकों में हैं।

उस जमाने में कम्युनिस्ट पार्टी के बंगला मासिक 'परिचय' ने एक कविता में लिखा कि 'नेहरू और पटेल, दोनों श्याला सुआरेर बाच्चा, बिड़ला टाटार जारोज शोन्तान' अर्थात 'ये साले सूअर के बच्चे बिड़ला–टाटा की अवैध सन्तान हैं।' उसी प्रवृत्ति के अनुरूप कई जेएनयू प्रोफेसरों ने बड़े–बड़े विद्वानों, जैसे जदुनाथ सरकार, रमेशचन्द्र मजुमदार, कवि अज्ञेय, धर्मवीर भारती, आदि के लिए गाली–गलौज का ही उपयोग किया है। अतः जेएनयू छात्रों, प्रोफेसरों द्वारा आज हिन्दू संगठनों, संतों

और नेताओं को फासिस्ट, असभ्य, मूर्ख आदि कहना उसी घृणित परंपरा में है ।

उसी परंपरा में मनुस्मृति जलाना, ब्राह्मणों को गालियाँ देना, गोमांस भक्षण समारोह आयोजित करना, महिषासुर दिवस मनाना, तथा देवी दुर्गा के लिए गंदे अपशब्द कहना एक बिलकुल नया अध्याय है! गाली–गलौज के ये नए निशाने हाल में चर्च–मिशनरी प्रेरणा से शुरू हुए हैं । यह वर्तमान अध्याय है, इसलिए इस की परख कोई स्वयं कर सकता है । जिस भी पत्र–पत्रिका या आयोजन में यह केंद्रीय बिन्दु हो, उस में कहीं न कहीं चर्च–मिशनरी संगठनों का सहयोग रहता है । ऊपर से अकादमिक लबादे में यह दरअसल विघटनकारी राजनीति है, जिस पर लगातार नजर रखकर पहचाना जा सकता है । इस प्रकार, एक ओर इस्लामी जिहादी तथा दूसरी ओर चर्च–मिशनरी, दोनों प्रकार के हिन्दू–द्वेषियों की कुटिल रणनीति का हथियार जेएयू के वामपंथी छात्र व प्रोफेसर बन गए हैं । ध्यान इस पर देना चाहिए । जाँच इसकी होनी चाहिए । क्या मनुस्मृति जलाना और बात–बात में ब्राह्मणों के प्रति घृणा व्यक्त करना अभिव्यक्ति स्वतंत्रता है? क्या इस के पीछे किसी विचार–विमर्श की भावना है ? साफ देखा जा सकता है कि ऐसे भड़काऊ काम समाज में लोगों को एक–दूसरे से लड़ाने का इरादा रखते हैं । सच तो यह है कि गालियों, अपशब्दों, लांछनों, उग्र बयान, देश–द्रोही नारेबाजी, आदि का उद्देश्य ही कुछ और है । ऐसा करने वाले भारतीय संविधान द्वारा दी गई स्वतंत्रता का उपयोग भारत को नष्ट करने के लिए कर रहे हैं ।

यह उनकी या उन के सूत्रधारों की सचेत नीति है । अतः सांप्रदायिक–सेक्यूलर, दलित–सवर्ण, अल्पसंख्यक–बहुसंख्यक, आर्य–द्रविड़ जैसे विरोधी खाने बनाकर लोगों को एक–दूसरे के प्रति द्वेष रखने के लिए प्रेरित किया जाता है । यह सब अभिव्यक्ति स्वतंत्रता की आड़ में किया जाता है, किन्तु वास्तविक मामला कुछ और है । यह जेएनयू तथा कई दूसरे विश्वविद्यालयों, अकादमिक संस्थाओं में चलाया जा रहा एक संगठित अकादमिक–राजनीतिक षडयंत्र है, जो लंबे समय से अबाध चलते हुए ऐसी जड़ जमा चुका है, कि तुरत पहचाना नहीं जाता । सारी जबर्दस्ती अकादमिक स्वायत्तता के नाम पर होती है । किन्तु यदि केवल जेएनयू में ही चलती रही सभी वैचारिक गतिविधियों की निष्पक्ष जाँच हो, तब पता चलेगा कि क्यों इसी कैंपस में हर प्रकार की घातक राजनीति को पनाह मिली है । खोजी पत्रकारिता भी यह जाँच कर सकती है ।

●

विद्वत कार्य के बदले राजनीतिक प्रचार

वस्तुतः, वामपंथी प्रोफेसरों ने राजनीतिक प्रोपेगंडा को जेएनयू में अकादमिक पोशाक में सजा कर रख दिया। देश भर से आने वाले भोले–भाले, अबोध युवा यह नहीं समझ पाते। वे समाज–विभाजक, देश–विरोधी, हिन्दू–द्वेषी प्रोपेगंडा से भरे सिलेबस, साहित्य, आदि को उच्च–शिक्षा मानकर आत्मसात कर लेते हैं। वहाँ विष–बेल फैलने का रहस्य यही है! पुराने प्रोफेसरों का रिकॉर्ड भी इसे दर्शाता है। उन प्रोफेसरों के संस्मरण भी प्रमाण हैं कि जेएनयू कल्चर के नाम पर वे स्तालिन सही थे या त्रॉत्सकी पर रात भर चलने वाली बहसों के सिवा कुछ याद नहीं कर पाते।

सच तो यह है कि जेएनयू में सिविल सर्विस आकांक्षियों को मिलने वाली लाजबाव सुविधाएं और रेडिकलिज्म के फैशन से कड़वी सचाई छिपी रही है कि उपलब्धि के नाम पर उन नामी प्रोफेसरों के पास भी कहने के लिए कुछ नहीं। अभीअभी पुरातत्ववेत्ता के. के. मुहम्मद की आत्मकथा से भी पुष्टि हुई है कि जेएनयू के मार्क्सवादी इतिहास प्रोफेसरों ने देश की कितनी गहरी हानि की। उन के हाथों पर खून है जो उन्होंने अयोध्या विवाद पर मुसलमानों को बरगलाकर देश भर में बहाया।

हमारे देश के स्वार्थी, अज्ञानी नेताओं की गैर–जिम्मेदारी के कारण यह सब छिपा रहा है, क्योंकि सेक्यूलरिज्म के नाम पर वे हर तरह की देशद्रोही, हिन्दूविरोधी सक्रियता को सहयोगी बना लेते हैं। इसीलिए जेएनयू कभी जाँच–पड़ताल का विषय नहीं बनता। जबकि समाज विज्ञान और मानविकी विषयों के मद में वहाँ होने वाला अतुलनीय खर्च अधिकांश नकली या हानिकारक कार्यों में जाता है।

अधिकांश प्रोफेसर अपने शोधार्थियों के नकली काम को इसलिए तरह देते हैं कि वह सिविल सर्विस की तैयारी कर रहे हैं या उन के विचारों वाले एक्टिस्ट हैं। उस निरर्थकता को प्रोफेसर जान–बूझकर

नजरअंदाज करते हैं ताकि कथित शोधार्थियों को साल–दर–साल हॉस्टल की सुविधा मिलती रहे! इस प्रकार, प्रति छात्र जो लाखों रूपये शोध अध्ययन करने के नाम पर खर्च हुए, वह सीधे नाले में जाते हैं। अधिकांश प्रोफेसरों की हालत भी लगभग समानांतर है। कई तो राजनीतिक सरगर्मियों में ही अधिक समय देते हैं। कुछ अन्य खानापूरी करते हैं। जेएनयू के सब से प्रसिद्ध इतिहास प्रोफेसर ही इस के अच्छे उदाहरण हैं। उनके संपूर्ण लेखन का सार–संक्षेप दो–चार पृष्ठों में लिखा जा सकता है। क्योंकि उन में किसी ज्ञान, शोध के बजाए राजनीतिक संदेश फैलाने की केंद्रीयता रही है जो अत्यंत सीमित है। सोवियत संघ वाली इतिहास पुस्तकों की तरह हर नई पुस्तक में वही पुरानी बात, यानी कोरा प्रोपेगंडा।

जेएनयू कैंपस में मौजूद पुस्तक दुकानें भी इस का अच्छा प्रमाण हैं कि वहाँ केवल नौकरी की तैयारी या राजनीतिबाजी होती हैं। वह संपूर्णतः विविध प्रतियोगिता परीक्षा संबंधी नोट, कुंजिका या फिर विविध रेडिकल साहित्य से अटी रहती हैं। इतिहास, राजनीति, साहित्य, अर्थशास्त्र आदि संबंधी प्रकाशन देखें तो लगेगा यह वर्ष २०१६ नहीं, १९८० ई. है! आज भी वही यूरोपीय, रूसी, चीनी कम्युनिस्ट पुस्तक–पुस्तिकाएं, जीवनियाँ, पर्चे, आदि भरे हुए हैं जो पैंतीस वर्ष पहले थे। ताजा पत्रिकाओं में प्रायः विभिन्न कम्युनिस्ट, रेडिकल गुटों के प्रकाशन, जिन में पुराने झूठ, अज्ञान और इक्का–दुक्का नए समाचार जोड़कर विश्लेषण रहता है। उन्हीं वामपंथी प्रोफेसरों, प्रचारकों की लफ्फाजियाँ जिन में दशकों से कोई बदलाव नहीं हुआ। सनक की हद तक वही दुहराहट बार–बार छापी जाती है, जो बौद्धिक विष की तरह हर साल आने वाले नए छात्रों को छूती और भ्रष्ट करती है। इसी प्रोपेगंडा को अकादमिक अध्ययन कहा जाता है!



समाज विज्ञान और साहित्य (सोशल साइंस तथा ह्यूमैनिटीज) के

छात्र वही विषैली पुस्तकें, पर्चे, पत्रिकाएं पढ़ते हैं या पढ़ने को मजबूर किए जाते हैं। सालाना देश भर से जेएनयू आने वाले बेचारे भोले युवाओं के लिए चिंतन, मनन हेतु यही सीमित, बासी, भुखमरों सी बौद्धिक खुराक है, जो यह वामपंथी विश्वविद्यालय उन्हें देता है। इस में कोई पौष्टिकता नहीं है। कोई चाहे भी तो समाज विज्ञान, मानविकी विषयों में वहाँ नए चिंतन, शोध, आदि की प्रेरणा नहीं पा सकता। जेएनयू का स्थापित वातावरण इस के नितांत विरुद्ध है। इस अर्थ में वहाँ अभिव्यक्ति स्वतंत्रता नहीं, बल्कि एक विशेष प्रकार के मिश्रित रेडिकलिज्म की तानाशाही है। वह भिन्न विचारों, प्रकाशनों, अध्यापकों को बर्दाश्त नहीं करती।

इसीलिए यह विश्वविद्यालय उच्च-शिक्षा की आड़ में युवाओं के लिए मुख्यतः नौकरी की खोज या वामपंथी राजनीति में कैरियर बनाने वालों का अड्डा भर रहा है। नौकरी की खोज यहाँ का प्रमुख सेक्यूलर कार्य है, तो हिन्दूविरोधी राजनीति प्रमुख मजहबी कार्य। इन्हीं दो कार्यों को वहाँ पारंपरिक, ढाँचागत समर्थन मिलता है। हिन्दू-विरोधी, सरकार विरोधी, और प्रायः देशविरोधी राजनीति का समर्थन। विडंबना यह कि यह सब करने के लिए सारा धन उसी हिन्दू जनता, सरकार और देश से लिया जाता है!

इस प्रकार, सर्वाधिक संसाधनयुक्त इस केंद्रीय विश्वविद्यालय में सामाजिक विज्ञान और मानविकी शिक्षा पूरी तरह दिखावटी काम में बदल कर रह गयी है। यह भी एक स्कैम है, एक अपराध। इसीलिए, जब भी जेएनयू की चर्चा होती है तो गलत कारणों से।



क्या जेएनयू देश के अंदर अलग देश है

गत २१ फरवरी को जेएनयू में आरोपी छात्र उमर खालिद ने छात्रों के बीच भाषण दिया। उसे चैनलों पर दिखाया गया। साथ ही, जेएनयू छात्र संघ के पदाधिकारियों तथा कुछ जेएनयू शिक्षकों के बयान, आदि भी सुने गए। इन सब में साम्य हैरान करने वाला है! उन बयानों में लोकतंत्र, राष्ट्रवाद, न्याय, कानून तथा अभिव्यक्ति स्वतंत्रता पर सैद्धांतिक दलीलें हैं। यही दलीलें विचारणीय, तथा हैरान करने वाली हैं।

जेएनयू छात्रों तथा प्रोफेसरों की बातें सुनकर जॉर्ज आरवेल की पुस्तक 'एनिमल फार्म' का स्मरण होता है। उस अदभुत पुस्तक ने दिखाया कि कम्युनिस्ट रूस में समानता, स्वतंत्रता, न्याय, शान्ति, युद्ध, आदि धारणाओं की क्या दुर्गति हुई थी। अतः संयोग नहीं है कि जेएनयू के छात्र, प्रोफेसर वही कर रहे हैं, क्योंकि वहाँ भी ठीक उसी कम्युनिस्ट विचारधारा का दबदबा रहा है।

अतः जेएनयू में न्याय, स्वतंत्रता, राष्ट्रवाद, आदि की विचित्र समझ उसे वैसा ही पशु–बाड़ा या मानव–बाड़े सा दिखाती है, जहाँ के लोगो को दुनिया का वास्तविक ज्ञान नहीं है। उन्हें हर चीज की एक बनी–बनायी समझ है, जो भारत–विरोधी या हिन्दू–विरोधी है। इसीलिए वे सहजता से, यहाँ तक कि गर्वपूर्वक मुहम्मद अफजल, याकूब मेमन या अजमल कसाब का उल्लेख करते हैं। यही कारण है कि अभी पूरे देश ने महसूस किया कि जेएनयू मानो भारत से अंदर कोई अलग देश हो! वहाँ के प्रोफेसर, छात्र नेतागण जो अधिकांश बोल रहे हैं, वह लगता है जैसे कोई विदेशी हों जो मूढ़ देसी लोगों को समझा रहे हों। अन्यथा न्यायालय से दंडित, स्वघोषित आतंकी या अजमल कसाब जैसे टी.वी. पर लाइव देखे गए आतंकी को जेएनयू में निर्दोष समझे जाने की कोई और व्याख्या नहीं हो सकती।



हमारे सासंदों को इस पर ध्यान देना चाहिए कि वे क्या पढ़ाने के लिए जेएनयू को सर्वाधिक उदारता से धन देते रहे हैं? वहाँ जो मानसिकता बनी है, वह लंबे समय की व्यवस्थित विकृति का नतीजा है। यह वहाँ पूरी सामाजिक–मानविकी शिक्षा के राजनीतिकरण का मामला है। वहाँ से आ रहे अधिकांश विचित्र बयान इतने सहज विश्वास से दिए जा रहे हैं कि सामान्य पुलिसवाले भी हैरत में हैं कि आखिर जेएनयू में कैसे लोग हैं? आतंकवाद, राष्ट्रवाद, न्याय, कानून, आदि पर क्या अनापशनाप बोलते हैं?

अतः देश की जनता, देश–हित और सामान्य बुद्धि से जेएनयू की प्रभावी बौद्धिकता का पूर्ण अलगाव ही मूल चिन्ता का विषय होना चाहिए। वहाँ पूरी सामाजिक–राजनीतिक शब्दावली का विचित्र अर्थ कर लिया गया है। ऐसा अर्थ जो न केवल मानक राजनीति शास्त्र के विपरीत है, बल्कि अपने देश व समाज के प्रति लापरवाह, यहाँ तक कि विरुद्ध भी है। जेएनयू ऊटपटांग बुद्धिजीवियों के एनिमलफार्म में बदल गया है।

वहाँ लंबे समय से वामपंथी वातावरण का स्त्रोत यह है कि इतिहास, राजनीति, साहित्य, जैसे विषयों का राजनीतिकरण कर डाला गया। यह वहाँ सामाजिक विषयों के सिलेबस, पाठ्य–सूची, गोष्ठी–सेमिनार के विषय, आदि हरेक चीज से परखा जा सकता है। स्वतंत्रता, समानता, न्याय, विविधता, एकता, भेद–भाव, शान्ति, क्रान्ति, आतंकवाद, मानवीयता, आदि धारणाएं इन्हीं विषयों से जुड़ी हैं। इन धारणाओं को विभिन्न, विपरीत अर्थों तक में व्याख्यायित किया जा सकता है। कम्युनिस्ट रूस के अनुकरण में जेएनयू में यही किया गया। इसीलिए देश–द्रोही और आतंकवाद समर्थक वक्तव्यों को सहज माना जाता है। यह वैचारिक नशा है, जो जनता से पूर्ण विलग होकर भी अपने रेडिकल मत को जनवाद कहता है! यह ठीक एनिमल फार्म वाली दुर्गति है।

जेएनयू में सामाजिक विषयों की शिक्षा नहीं, मतवादीकरण (इंडॉक्ट्रीनेशन) होता

रहा है। यानी किसी मत या विचारधारा विशेष में आग्रही बनाने का कार्य। मतवादीकरण के कुछ तरीके हैं: किसी का भावनात्मक दोहन, उसमें अपराध–बोध भरना, बार–बार निन्दा करना, दूसरों का छिद्रान्वेषण, लज्जित करना, दोषारोपण करना, पीड़ित होने का ढोंग करना, तथ्यों पर छल करना, तथ्यों से इंकार करना, गलत सूचनाएं देना, तथ्यों को विकृत रूप में पेश करना, असुविधाजनक बातों से बचने की कोशिश करना, अतिरंजना करना, मिथ्या बोलना, किसी महत्वपूर्ण बात को घटाकर पेश करना, आदि। सामाजिक शिक्षा, विशेषतः इतिहास, राजनीति तथा साहित्य में नई, जनवादी, आधुनिक, आदि व्याख्या के नाम पर यह सब सरलता से होता है। यह शिक्षा की भावना के विरुद्ध है। जेएनयू में यही हुआ है। वहाँ के मार्क्सवादी इतिहासकारों की पुस्तक–पुस्तिकाएं, भाषण, एक्टिविज्म, आदि इस के सटीक उदाहरण हैं।

इसीलिए वहाँ छात्र अपनी मतवादी या मूर्खतापूर्ण बातों को विशिष्ट ज्ञान समझते हैं। शिक्षा है ज्ञान, विवेक तथा प्रमाणिक जानकारी होना। न कि कोई बना–बनाया निष्कर्ष या मत दुहराना, चाहे सुनने में वे कितने ही अनोखे क्यों न लगें। मतवाद प्रभावित व्यक्ति उस मत की समीक्षा करने को राजी नहीं होता। इसे जेएनयू में साफ देखा जा सकता है, जब छात्र और प्रोफेसर बड़े विश्वास से वहाँ प्रशासन को ही नहीं, पुलिस एवं न्यायालय को भी निर्देश देने का अंदाज दिखाते हैं। वहाँ समाज विज्ञान शिक्षा ने विद्वान के बदले दलीय कार्यकर्ता तैयार किए हैं। उन्हीं कई को प्रोफेसर बना देने से सचाई छिप नहीं सकती।

वस्तुतः यह सब वहाँ इतने खुले रूप में होता रहा है कि बहुतों को विश्वास नहीं होगा कि ऐसा भी हो सकता है। कि पूरी शिक्षा को देश–विरोधी पार्टी प्रोपेगंडा में बदला जा सकता है। मगर जेएनयू में यही हुआ है। इस बिन्दु पर सारे रेडिकलों के प्रिय नोआम चोमस्की के विचार भी दर्शनीय हैं मतवादीकरण की प्रक्रिया और गतिविधि को ठीक से समझना सब से आवश्यक कर्तव्य है। तानाशाही शासन वाले देशों में इसे देख पाना बड़ा आसान है, किन्तु स्वतंत्रता में मगजधुलाई (ब्रेइन वोशिंग) की व्यवस्था को देख पाना बहुत कठिन है जिस में हम मजबूर किए जाते हैं, और कई बार जिसके हम अनजाने उपादान बन जाते हैं।

चोमस्की ने यह बात लोकतांत्रिक सरकारों के लिए कही थी, किन्तु यह बात दोधारी तलवार है। यह नेहरू या इंदिरा गाँधी जैसी सरकार पर सही है, तो

जेएनयू जैसे स्वायत्त अकादमिक टापू पर भी, जहाँ विविध कम्युनिस्ट ग्रुप, माओवादियों, जिहादियों ने अपने अड्डे बना लिए हैं। इन्होंने अपने मतवाद को तस्करी से शिक्षा में घुसाने के लिए स्वतंत्रता का वही दुरूपयोग किया है, जो चोम्सकी का आशय है।

जो नाली घर का गंदा पानी बाहर करने के लिए बनाई जाती है, बाढ़ में उसी से गंदा पानी अंदर भी आता है। उसी तरह, जो स्वायत्तता ज्ञान–साधना को सरकारी हस्तक्षेप से मुक्त रखने के लिए दी गई थी, उसी के दुरुपयोगने जेएनयू, तथा कई संस्थाओं को, भारत–विरोधी हिन्दू–विरोधी किले में बदल डाला गया है। यह हमारे सासंदों को पार्टी–बंदी से उठकर देखना चाहिए।

जेएनयू की सामाजिक शिक्षा का राजनीतिकरण मूलतः उस समाजवादी भ्रम की ही निष्पत्ति है, जो स्वतंत्र भारत में सरकारी स्वीकृति से आरंभ होकर धीरे–धीरे मीठे विष की तरह शिक्षा, विमर्श और बौद्धिक सांस्कृतिक गतिविधियों के पोर–पोर में व्याप गया है। इस से अज्ञान, लफ्फाजी तथा मानदंडहीनता फैली है। फलतः घटनाओं, स्थितियों, विचारों को ठोक–बजाकर देख नतीजा निकालने के बजाए पूर्व–निर्धारित निष्कर्ष के अनुरूप प्रस्तुत करना, उसी को हर हाल में फैलाने, रटाने, जमाने को शिक्षा का लक्ष्य मान लेना, उस निष्कर्ष के प्रति उत्साह, अनुत्साह के आधार पुस्तकों, प्राध्यापकों, शिक्षण बिन्दु–विषयों का चयन करना। यह सभी प्रवृत्तियाँ जेएनयू के सामाजिक–मानविकी विभागों में इतने गहरे जमी हैं कि इस की तुलना केवल पुराने सोवियत संघ के शिक्षण परिदृश्य से ही हो सकती है। जेएनयू से यह हमारे दूसरे विश्वविद्यालयों, मीडिया, आदि तक भी फैली है।

यही कारण है कि यहाँ कई मामलों में वही सोवियत टाइप ज्ञान–शून्यता, आत्मछलना, स्वआरोपित सेंसरशिप, वैचारिक भैंगापन आदि दिखते हैं। तभी हमारे विचार–विमर्श और अकादमिक लेखन में भी अनेक मनगढ़ंत निष्कर्ष निर्विवाद सत्य के रूप में चलते हैं। उदाहरणार्थ, भारत के प्रति पश्चिमी रुख के बारे में, स्वयं भारतीय इतिहास, समाज, वर्णव्यवस्था, शास्त्रों या धर्म के बारे में, अमेरिकी–अरब–यूरोपीय नीतियों या समाजों के बारे में, विविध समस्याओं पर काले/सफेद जैसे एकांतिक निष्कर्ष, तथा अनेक बड़े–बड़े विषयबिन्दुओं पर पूर्णतः शून्य जानकारी देखी जाती है।

श्रीअरविन्द ने कहा था कि किसी भी महान देश का पतन हमेशा तीन गुणों के क्षरण से आरंभ होता है। यह तीन गुण हैं: विवेकपूर्ण विचार करने की क्षमता, तुलना व विभेद करने की क्षमता, तथा अभिव्यक्ति की क्षमता। हमें जेएनयू के हाल से अपने देश की स्थिति का आकलन कर लेना चाहिए। श्रीअरविन्द की चेतावनी भारत के लिए तो विशेष स्मरणीय है क्योंकि पिछले हजार वर्ष से दस्यु, बर्बर और धूर्त लोग आकर यहाँ उन से उन्नत सभ्यता–संस्कृति वाले लोगों पर अधिकार जमाते रहे हैं। जेएनयू में वैसे ही बाहरी, धूर्त तत्वों का अड्डा जमना तथा छात्रों, प्रोफेसरों की मतिहीन बयानबाजी उसी का सकेत है।

कम से कम हमें सोवियत अनुभव से भी सीखना चाहिए कि सात दशकों तक वहाँ कम्युनिस्ट मतवादीकरण को ही समाज विज्ञान शिक्षा मानने के क्या–क्या दुष्परिणाम हुए? याद रखें, उसी रूसी मतवाद के अनुयायियों को जेएनयू बनाने का भार दिया गया था! इस का महत्त्व और कुपरिणाम हमको दिखाई पडना चाहिए।



समाज विज्ञान शिक्षा का राजनीतिकरण

इतिहास, राजनीति शास्त्र, समाजशास्त्र, साहित्य, आदि विषय समाज विज्ञान और मानविकी में आते हैं। यही विषय हैं जिन्हें हर देश में अलगअलग पढ़ा–पढ़ाया जाता है, क्योंकि ये विषय समाज सापेक्ष होते हैं। भौतिकी, रसायन, जीवविज्ञान, कँप्यूटर, आदि की तरह यह दुनिया भर में एक ही नहीं होते। अस्तु, ये विषय, विशेषकर इतिहास, साहित्य और राजनीति शास्त्र हर तरह की गड़बड़ी, विकृति के लिए खुले होते हैं। आधुनिकता, नये विचार या प्रगतिवाद, आदि किसी बहाने इन विषयों में तरह–तरह की मनमानी, जालसाजी और मिथ्याचार संभव होता है। उद्देश्य होता हैः छात्रों, युवाओं को विशेष प्रकार की मानसिकता में मोड़ने का सचेत प्रयास। यह प्रायः हानिकारक इरादों से ही होता है, क्योंकि मानवतावादी या देश–हित में सचाई के साथ हेर–फेर करने या मनगढ़ंत बाते पढ़ाने की जरूरत ही नहीं होती। इस दृष्टि से जेएनयू की सोशल साइंस पढ़ाई गंभीरता से परखने की जरूरत है।

अभी कई बड़े अंग्रेजी अखबार जेएनयू में भारत–विरोधी व मुहम्मद अफजल के पक्ष में नारे लगाने वालों के प्रति सहानुभूति जगाने में लगे हैं। वे गिरफ्तार छात्र के परिवार की गरीबी, उस के परिवार की तस्वीरें दिखाकर करुणा जगाने और सरकार, प्रशासन और संघ–परिवार की खिल्ली उड़ा रहे हैं। सचमुच, अंग्रेजी मीडिया की मानसिकता बचकानी है! क्या किसी गरीब को देश के दुश्मन इस्तेमाल नहीं कर सकते? केवल गरीब होने से किसी आरोपी को निर्दोष मान लिया जाए? तब न्याय–प्रक्रिया किसलिए है?

या यही समझें कि भारत के शत्रुओं की पहुँच चौतरफा है, और इसीलिए देशभक्ति की खिल्ली उड़ाना अंग्रेजी मीडिया के एक अंग का अनिवार्य फैशन है? मीडिया कर्तव्यनिष्ठा का तकाजा तो जेएनयू में



विदेशी एजेंटों, देश–विरोधी नारेबाजों, कार्यकर्ताओं, प्रोफेसरों के कामों, गतिविधियों की भी जाँच होनी चाहिए थी। आखिर क्यों और कैसे दिल्ली के अधिकांश विचित्र समाचार वहीं से आते हैं! यह दुर्योग है, संगठित राजनीतिबाजी या मिला–जुला, जाना–अनजाना षडयंत्र? यह जानने में सब की रुचि है। मगर मीडिया ने यह काम नहीं किया।

जेएनयू के सब से प्रसिद्ध स्कूल ऑफ सोशल साइंस (जहाँ सारे एमिनेंट हिस्टोरियंस जमे थे) के आर्काइव्स पर भी अगर पत्रकार नजर डालें, तो उन्हें कुछ सोचने का कष्ट करना पड़ेगा। वह आर्काइव्स पूरी तरह कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया अभिलेखागार है। उस का नाम भी कम्युनिस्ट नेता पी. सी. जोशी के नाम पर है। वेब–साइट विवरण में उन के कम्युनिस्ट नेता होने के सिवा किसी योग्यता का उल्लेख नहीं, जिस से दिखे कि देश में सोशल साइंस की सर्वोच्च शिक्षा केंद्र का अभिलेखागार उस नेता के नाम पर क्यों है? फिर अभिलेखागार की सामग्री, गतिविधियाँ, जैसे लेक्चर–सिरीज के आमंत्रित महानुभावों के नाम, आदि देखें। वहाँ लगभग पूरी तरह मात्र कम्युनिस्ट प्रोफेसरों, एक्टिविस्टों के नाम सजे हुए हैं। प्रकाशनों को देखें, तो घोषित कम्युनिस्ट, रेडिकल, हिन्दू–विरोधी राजनीतिबाजों के पर्चे। आनन्द पटवर्धन, तीस्ता सीतलवाद, आदि।

वस्तुतः, जेएनयू का पूरा सोशल साइंस कम्युनिस्ट पार्टियों, तथा अब उन पार्टियों के मरगिल्ले हो जाने के बाद, विविध भारत–विरोधी, हिन्दू–विरोधी, समाज–विध्वंसक विचारों, नारों, अभियानों का प्रचारक होने के सिवा शायद ही कुछ है, इस की परख कोई स्वयं भी कर सकता है। जेएनयू की वेब–साइट पर जाएं। इस के सर्च में (सर्च अवर वेब–साइट) CPI टाइप करें। बारह पन्नों की लंबी सूची मिलेगी कि इस विषय पर आर्काइव्स में क्या–क्या उपलब्ध है। यानी, वहाँ

कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया की विशद सामग्री इकट्ठा करके, श्रद्धापूर्वक सब के लिए संजो कर रखी गई है। फिर, आप वही सर्च BJS (भारतीय जनसंघ) टाइप कर आजमाएं। शून्य परिणाम मिलेगा। यानी, इस पार्टी का कोई मूल दस्तावेज, प्रकाशन, आदि वहाँ नहीं है। मानो, इस देश में भाजसं या भाजपा नामक पार्टी का अस्तित्व ही न रहा हो। जरा सोचें, सब से महत्वपूर्ण केंद्रीय विश्वविद्यालय के सोशल साइंस आर्काइव्स को कम्युनिस्ट–पार्टी–आर्काइव्स में बदल देने में वहाँ के विचित्र राजनीतिक वातावरण का संबंध नहीं है?

आर्काइव्स पर कुछ और नजर डालें। पता चलेगा कि अनेक दस्तावेजो, पुस्तिकाओं, आदि में जनसंघ या भाजपा का उल्लेख तो है। मगर उन्हीं कम्युनिस्ट पर्चों, पैंफलेटों, पुस्तकों में। अर्थात्, इस पार्टी को, जो देश की एक सबसे बड़ी पार्टी रही है, कई बार देश की सत्ता में शामिल रही है, और अनेक राज्यों में दशकों से अच्छा शासन दिया, ऐसी पार्टी को जेएनयू के सोशल साइंस आर्काइव्स ने केवल दुष्ट, दानव, शैतान के रूप में दर्ज किया है! वह भी किसी अपने शोध–अध्ययन से नहीं, बल्कि मात्र कम्युनिस्ट पार्टी के द्वारा छापे गए प्रचार या दुष्प्रचार–साहित्य के आधार पर।

नोट करने की बात वह साम्य है जो इस आर्काइव्स में मौजूद संघ–भाजपा की छवि तथा जेएनयू के कम्युनिस्ट प्रोफेसरों के कथित अकादमिक काम में है। इन प्रोफेसरों ने पूरा जीवन वही प्रचार करने तथा संघ–भाजपा. हिन्दू धर्म पर कालिख पोतने एवं तदनुरूप राजनीतिक अभियान चलाने (जैसे, अयोध्या विवाद) में लगाया है। इसी को सोशल साइंस पढ़ाना समझा, और समझाया है। आज उन के द्वारा ही नियुक्त चेले, जो अधिकांश पुराने कम्युनिस्ट कार्यकर्ता हैं, उसी तरह अपनी–अपनी दलीय सहानुभूति के साथ–साथ विविध रेडिकल, मिशनरी, एनजीओ, आई.एस.आई. (गुलाम नबी फई टाइप), आदि के सहयोग से वही काम बढ़ा रहे हैं।

उदाहरणार्थ, जेएनयू के दूसरे प्रसिद्ध समाज विज्ञान के अंग, स्कूल ऑफ इंडरनेशनल स्टडीज में सेंटर फॉर कॉम्पेरेटिव पोलिटिक्स एंड पोलिटिकल थ्योरी के एम.ए. (राजनीति) के पाठ्यक्रम और पाठ्य–सूची पर नजर डालें। इस उदाहरण से वहाँ छात्रों को मिलने वाली शिक्षा, शिक्षण और प्रशिक्षण का एक जायजा मिलेगा। वेबसाइट पर देखें इस सेंटर में पढ़ाए जाते दो कोर्स पोलिटिकल थॉट ख और पोलिटिकल थॉट खख. इन दोनों कोर्सों का उद्देश्य, उन के अपने ही शब्दों में यह

हैः १. छात्रों को समकालीन क्रिटिकल थिंकिंग से परिचित करना, चाहे उन छात्रों का राजनीति शास्त्र से पहले परिचय रहा हो या नहीं। २. समकालीन बौद्धिक और राजनीतिक फलक को समझने के लिए पश्चिमी और गैर–पश्चिमी, दोनों स्त्रोतों का उपयोग करना। ३. अंतर्राष्ट्रीय संबंध के छात्रों को विभिन्न क्षेत्रों/देशों के अध्ययन (एरिया स्टडीज) से जुड़े सैद्धांतिक मुद्दों तुलनात्मक समझने के लिए तैयार करना।

रोचक बात यह है कि इन कोर्स में बाकायदा लिख दिया गया है कि यह केवल पश्चिमी राजनीतिक चिंतन को लेगा, भारतीय राजनीतिक चिंतन, अगर उसे पढ़ाया भी जाए, तो वह अलग विषय है। जैसा उस सेंटर और उस स्कूल के दूसरे अनेक कोर्सों से देखा जा सकता है, भारतीय राजनीतिक चिंतन वाला अलग विषय पढ़ाया ही नहीं जाता। यही नहीं, रुसी, चीनी, जापानी, ईरानी, सऊदी, पाकिस्तानी चिंतन भी पुराना, क्लासिकल या समकालीन कोई भी तुलनात्मक अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक सिद्धांत पढ़ने–पढ़ाने के लिए बने इस कोर्स में कहीं शामिल नहीं है। न कोई चिंतक, न पुस्तक।

इस तरह, तुलनात्मक अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में तुलना के लिए कोई पाठ्य–सामग्री ही नहीं दी गई है। उसी प्रकार जैसे सोशल साइंस आर्काइव्स में कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया के प्रचार–साहित्य के सिवा कुछ नहीं, यहाँ भी एक्टिविस्ट प्रोफेसरों की अपनी झक, लनतरानियों के सिवा पाठ्य–क्रम और पाठ्य–सामग्री लगभग शून्य है। अब समझ सकते हैं कि कोर्स के उद्देश्य में महान राजनीतिक चिंतकों को पढ़ाने के बदले समकालीन क्रिटिकल थिंकिंग से परिचित करना क्यों लिखा गया है! राजनीतिक चिंतन के लिफाफे में केवल संकीर्ण मतवादी प्रचार चलाने के लिए यह मुफीद शब्दावली है, जिसे आधुनिक, सामयिक बताकर भोले छात्रों के गले माथे उतारा जाता है।

इसीलिए, इन कोर्स का नाम, इन के घोषित उद्देश्य तथा तदनुरूप दी गई पाठ–सूची में कोई ताल–मेल नहीं है। या कहें कि दिखाने के दाँत और खाने के और हैं। सब से पहले, शीर्षक के साथ अन्याय। फिर, कोर्स में चिंतकों की सूची में कोई गैर–पश्चिमी नाम नहीं है, बिना परवाह के, कि तब गैर–पश्चिमी स्त्रोतों से भी समकालीन बौद्धिक–राजनीतिक मुद्दों का कैसे अध्ययन होगा? इतना ही नहीं, पश्चिमी स्त्रोतों में कार्ल मार्क्स को अपनी ओर से अंतिम पश्चिमी चिंतक घोषित कर डाला गया है! यानी, सन १८८३ के बाद से यूरोप, अमेरिका में भी कोई राजनीतिक चिंतक

नहीं हुआ यह मानकर यह कोर्स बनाया गया है! तब बर्ट्रेंड रसेल, कार्ल पॉपर, आना अरेंट, कार्ल यास्पर्स, रेमंड एरों, सैमुएल हंटिंगटन, एस. एम. लिपसेट, फ्रांसिस फुकुयामा, आदि प्रख्यात हस्तियाँ क्या विदूषक थीं?

या तो जेएनयू के अकादमिक कर्णधार भयंकर अज्ञानी हैं। इसीलिए ठीक समकालीन–तुलनात्मक–अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के ज्ञान–क्षेत्र में हंटिंगटन, लिपसेट और फुकुयामा जैसे विद्वानों का स्थान नहीं जानते। न वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय घटनाक्रम के लिए मुहम्मद अल–वहाब तथा अयातुल्ला खुमैनी का महत्व समझते हैं। कम से कम पिछले चार दशक की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति इन दो राजनीतिक चिंतकों के बिना समझना ही असंभव है। इन सब को गायब करके तुलनात्मक अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का कोर्स पढ़ाने का दूसरा कारण यही हो सकता है कि प्रोफेसरों का संकीर्ण एक्टिविस्ट एजेंडा जानबूझकर वास्तविक विद्वानों, हस्तियों को हटाकर अपने पसंदीदा, हमख्याल प्रचारकों, पुस्तकों, आइटमों को ही भोले–भाले छात्रो को पढ़ाता है। जो देश के कोने–कोने से जेएनयू पढ़ने आते हैं। इन दो के सिवा कोई कारण नहीं कि ऐसा विकृत, अज्ञानी कोर्स बनाया जाए!

हाँ, इस बिन्दु पर यदि इस से कुछ प्रकाश पड़ता हो, तो जानने योग्य है कि उक्त सेंटर फॉर कॉम्पेरेटिव पोलिटिक्स एंड पोलिटिकल थ्योरी के सर्वेसर्वा प्रोफेसर कमलमित्र चिनॉय हैं। लंबे समय तक कम्युनिस्ट रहने के बाद इधर आम आदमी पार्टी के एक्टिविस्ट बने। लेकिन इन की अधिक प्रसिद्धि कश्मीर की आजादी, माओवादी तथा हर तरह की हिन्दू–विरोधी राजनीतिक गतिविधियों को देश और विदेश में भी चलाने के लिए बनी है। आपके कारनामों के दो उदाहरण विशेष ध्यातव्य हैं –

पहली, गुजरात दंगों के बाद वाशिंगटन डी. सी. में १० जून २००२ को वहाँ की सरकारी समिति यूनाइटेड स्टेट्स कमीशन ऑन इंटरनेशनल रिलीजस फ्रीडम (यू.एस.सी.आई.आर.एफ.) के सामने प्रो. चिनॉय ने भारत सरकार के खिलाफ गवाही दी (अन्य गवाहों में तीस्ता सीतलवाड और फादर सेड्रिक प्रकाश भी थे)। कृपया ध्यान दें – कमीशन की सुनवाई का उद्देश्य था अमेरिका द्वारा भारत पर प्रतिबंध लगाने पर विचार। यानी अपने ही देश पर प्रतिबंध लगवाने के लिए प्रोफेसर चिनॉय अमेरिका को प्रेरित कर रहे थे! उसके लिए उन्होंने वहाँ क्या झूठ बोले, वह अभी रहने दें।

दूसरा, वे अमेरिका में पाकिस्तानी आई.एस.आई. एजेंट गुलाम नबी फई और उस की कश्मीरी अमेरिकी काउंसिल (के.ए.सी.) के मेहमान बनकर कश्मीर पर भारत–विरोधी प्रचार करते रहे हैं (अन्य मेहमानों में जस्टिस राजेंद्र सच्चर, कुलदीप नैयर, गौतम नवलखा, अरुंधती राय, आदि भी थे)। फई ने अमेरिकी अदालत को बताया कि वह लगभग १९९२ से ही आई.एस.आई. के निर्देश और पैसे से वहाँ काम कर रहा था। इस प्रकार, प्रो. चिनॉय आई.एस.आई. के लिए अमेरिका में भारत–विरोधी प्रोपेगंडा में शामिल रहे हैं।

यदि कोई समझे कि बेचारे चिनॉय को फई की असलियत मालूम न थी, तो दो बातें विपरीत हैं। एक, केंद्रीय जाँच ब्यूरो ने १९९७ में ही के.ए.सी. के आई.एस.आई. संचालित होने की बात बताई थी। हवाला जाँच में ब्यूरो ने पाया कि फई की के.ए.सी. कश्मीर में सक्रिय आतंकवादी संगठन हिज–बुल–मुजाहिदीन को पैसे भेजती रही है। यह तथ्य केंद्रीय जाँच ब्यूरो की औपचारिक चार्जशीट में दर्ज थे। दूसरे, वरिष्ठ पत्रकार मनोज जोशी की पुस्तक द लॉस्ट रेबेलियनः कश्मीर इन नाइन्टीज (पेंग्विन, १९९९) में भी फई की वास्तविकता प्रकाशित हुई थी। अतः फई और के.ए.सी. की वास्तविकता प्रो. चिनॉय जानते थे। बल्कि इसीलिए वे उस के मेहमान बनते थे!

अतएव, प्रो. चिनॉय जेएनयू में क्या पाठ्यक्रम बनाते रहे, क्या पढ़ाते रहे, तथा आगे पढ़ाने के लिए कैसे नए सहयोगी नियुक्त करते रहे इस से उक्त तथ्यों का गहरा संबंध है। कोई बुद्धिजीवी या जेएनयू प्रशासन यदि दलील करे कि प्रो. चिनॉय के एक्टिविज्म का विश्वविद्यालय में उन के कार्य से संबंध जरूरी नहीं, तो सच मानिए, यह सुनकर पुराने मार्क्सवादियों को हँसी आ जाएगी। कम्युनिस्ट पार्टी जो पहली चीज रंगरूटों को सिखाती है वह यही कि हर चीज वर्ग–हित में, पार्टी–हित में होनी सुनिश्चित करो। अतः चिनॉय की हिन्दू–विरोधी और भारत–विरोधी कटिबद्धता सुविचारित है, अनजाने नहीं।

इसीलिए जेएनयू के संपूर्ण समाज विज्ञान और मानविकी अध्ययन को पार्टी–हित में लगा देना दुर्योग नहीं है। न ही सारे कम्युनिस्ट, देशविरोधी, हिन्दू–विरोधी, राजनीतिक संगठनों, के अड्डे वहीं बनते रहना। वह सब अकादमिक और बौद्धिक स्वतंत्रता की आड़ में किया जाता है। जैसे, चिनॉय के दोस्त फई अमेरिका में करते थे। चिनॉय का सौभाग्य है कि यहाँ मीडिया, नौकरशाही और नेतागण, सभी कानूनों

का पालन करवाने में ही नहीं, सामाजिक शान्ति और देश की सुरक्षा जैसे विषय पर भी ध्यान नहीं देते। अन्यथा, पार्टी–प्रोपेगंडा जैसी सामग्री केंद्रीय विश्वविद्यालय की उच्च–शिक्षा पाठ्य–सामग्री बना देने की जाल–साजी चार दशकों से नहीं चल रही होती!

सोशल साइंस के आर्काइव्स, राजनीति शास्त्र के पाठ्य–क्रम के बाद अब एक नजर जेएनयू के नियमित अकादमिक गोष्ठियों, सेमिनारों पर भी डाल लें। ज्यादातर के तो शीर्षक ही इस की चुगली कर देंगे कि मंशा क्या है।

खैर, उसी स्कूल ऑफ सोशल साइंस ने अपनी चालीसवीं वर्षगाँठ पर एक बड़ा अंतर्राष्ट्रीय सेमिनार किया। उस में विदेशों से अनेक भागीदार मोटा खर्चा देकर बुलाए गए थे। सेमिनार में इस का कोई उल्लेख तक न हुआ कि उस विभाग (स्कूल) ने चार दशकों में क्या उपलब्धि दी? मगर सेमिनार में शुरू से ही लगातार भारत सरकार और हिन्दू धर्म, समाज की निन्दा चलती रही। गुजरात दंगा तो (दस वर्ष बीत जाने के बाद भी) मानो उस का सिग्नेचर–ट्यून, मुख्य मुहावरा था, जिस का धर्म–पूर्वक उल्लेख मानो वक्ताओं, टिप्पणीकारों को करना ही था!

उस सेमिनार के पहले ही सत्र में आधे दर्जन वक्ताओं ने मुहम्मद अफजल को फाँसी दिए जाने की निंदा की। कश्मीर में भारतीय सेना को ओक्युपेशन–आर्मी बताया, चाहे कश्मीरी हिन्दुओं के सफाए पर किसी ने एक शब्द न कहो ! फिर, दलित–चिन्ता के नाम पर चर्च–मिशनरियों के प्रचार दुहराए, जो खुले रूप से हिन्दू धर्म के नाश का आवाहन करते हैं। सेमिनार में राजीव गाँधी फाऊंडेशन के प्रतिनिधि ने यह कह भारतीय न्यायपालिका पर कालिख पोती कि न्यायाधीश अभियुक्तों की जाति देख कर सजा सुनाते हैं। सत्र में चुनाव विश्लेषक (अब नेता) योगेन्द्र यादव के यह कहने पर कि कश्मीर देश की मुख्य धारा में जुड़ने की ओर बढ़ रहा है, उन की ऐसी फजीहत की गई कि उन्हें उठकर क्षमायाची मुद्रा में भारतीय सेना को उत्पीड़क, अन्यायी, आदि कहना पड़ा।

क्या इस एक ही उदाहरण से स्पष्ट नहीं, कि अभी भारतविरोधी और अफजल के पक्ष में नारेबाजी करने वाले छात्रों को जेएनयू के प्रोफेसरों ने ही उच्च–शिक्षा के नाम पर यही सब सिखाया है? आखिर वह सोशल साइंस पर अंतर्राष्ट्रीय विद्वत–सेमिनार था! वह तीन–दिवसीय सेमिनार जेएनयू के स्कूल ऑफ सोशल साइंस ने भारत सरकार से लिए गए विशेष अनुदान के करोड़ों रूपए खर्च कर किया था।

जिस में मुख्यतः भारत–विरोधी, हिन्दू–विरोधी प्रोपेगंडा खुले–आम और ठसक से चलता रहा। अतः समझने में भूल नहीं करनी चाहिए (चाहे तो अच्छी तरह सारे सिलेबस, पाठ्य–सूची, व्याख्यानों की जाँच–परख कर लें), कि वैसा गंदा राजनीतिक दुष्प्रचार ही जेएनयू में समाज विज्ञान की उच्च शिक्षा रही है!

इस घातक स्थिति को ठहर कर समझने की जरूरत है। हमारे सांसदों, पत्रकारो, न्यायाधीशों तथा आम लोगों सभी को इस पर ध्यान देने की जरूरत हैं कि नई पीढ़ियों को समाज विज्ञान शिक्षा के नाम पर मूलतः देश–समाज–विघटनकारी प्रोपेगंडा दिया जा रहा है। जेएनयू से समय–समय पर केवल देश–विरोधी, हिन्दू–विरोधी घटनाओं के समाचार अनायास नहीं हैं। वहाँ के विषैले वैचारिक वातावरण की संगठित जड़ अधिकांश उस सोशल साइंस की सामग्री और उन अनेक प्राध्यापकों में है, जिसे देश की आँखों में धूल झोंक कर पाला, सींचा जाता रहा है। यह हमारी नई पीढियों को जड़–मूर्ख और संभव हो तो देश–विरोधी, हिन्दू–विरोधी बनाने के काम आता है।

ध्यान रहे, जेएनयू पूरे देश के विश्वविद्यालयों के समाज विज्ञान विभाग का अनुकरणीय मॉडल भी है! इसीलिए, वही विषय, वही किताबें, वही मुहावरे, पर्चे देश भर के अन्य सैकड़ों सोशल साइंस विभागों, सेमिनारों में दुहराए जाते हैं ...। अतः हैदराबाद, जाधवपुर, मुंबई, अलीगढ़, आदि अनेक स्थानों के शैक्षिक संस्थानों से समय–समय पर आने वाली हानिकारक खबरे उस मतवादी कुशिक्षा से भी जुड़ी हुई हैं, जो कन्हैया और रोहित जैसों को हिन्दूविरोधी, देशविरोधी, आदि बनाता है।

इस पृष्ठभूमि में विचार करें कि सेना, परमाणु क्षमता, विदेश व्यापार और विकास आदि से भारत को सुरक्षित समझना कैसी बचकानी भूल है। जैसे किसी बड़े वृक्ष को कँटीले तार से घेर कर सुरक्षित मान लिया जाए, जिस की जड़ों में दीमक लग रही है। शिक्षा, विचारधारा और उस प्रभाव में मीडिया में भी विषैले, देशघाती, समाजघाती विचारों की जबर्दस्त पहुँच को वही दीमक समझना चाहिए जो हमारे युवाओं को हिन्दूविरोधी, देशविरोधी बनाने पर तुला है।

यह परखना चाहिए कि जो प्रोफेसर कश्मीरी जिहादियों या माओवादियों के खुले भारतविखंडन प्रोग्राम का समर्थन करते हैं, उन्होंने प्राठ्यक्रमों में भी हर तरह की घातक सामग्री घुसा दी है। क्या इन सब से राष्ट्रीय सुरक्षा और सामाजिक शान्ति को खतरा नहीं?

हमारे अंग्रेजी पत्रकारों को कभी संघ–भाजपा तथा हिन्दू धर्म की खिल्ली उड़ाने की झक से हट कर, स्वविवेक से भी स्थितियों की खोजबीन करनी चाहिए। देशद्रोह या कुशिक्षा के मामले को केवल संघ–भाजपा की चिन्ता या प्रचार बताने की टेक परम मूढ़ता है! क्या हमारे अंग्रेजी पत्रकार देश की सुरक्षा, सामाजिक सदभाव या कानून पालन, आदि विषयों से निरपेक्ष होना चाहते हैं?

फई प्रसंग ने साफ–साफ दिखाया था कि हमारे मूढ़ या लोभी बुद्धिजीवियों को किस तरह आई.एस.आई. इस्तेमान करती रही है। और आई.एस.आई. यहाँ दंगे भड़काना, फिदायीन हमले करवाना और भारत को तोड़ने की साजिश करती रही है, यह तो जगजाहिर है। तब इस सचाई को हल्के से लेकर हमारे पत्रकार, और विविध दलों के नेता अपने प्रति भी अपराध नहीं कर रहे हैं?

उपर्युक्त सभी बातें आंतरिक सुरक्षा से सीधे जुड़ी हैं। क्योंकि आई.एस.आई. एजेंट फई के हमप्यालों, हमनिवालों में हमारे वैसे प्रोफेसर, एक्टिविस्ट, आदि भी थे जो केंद्र (यूपीए) सरकार के लिए नीति–दस्तावेज बनाते रहे हैं। क्या यह समझने के लिए बड़ी बुद्धि चाहिए कि हमारे ऐसे उच्च–पदस्थ बुद्धिजीवियों की आई.एस.आई. खातिरदारी का मकसद क्या था? सच्चर आयोग रिपोर्ट को फई–रिपोर्ट या आई.एस.आई. रिपोर्ट समझने का पूरा आधार है। इस संभावना को हल्के से लेने वाले राजनीति की समझ में दुधमुँहे बच्चे समान हैं। आई.एस.आई. की क्षमता तथा भारत के विरुद्ध उस की कटिबद्धता का अनुमान करने के लिए क्रिस्टीना लैम्ब की पुस्तक फेयरवेल काबुल (२०१५) पढ़ लेनी चाहिए।

बहरहाल, जेएनयू की तरह देशभर में कई अकादमिक और मीडिया इकाइयाँ कम्युनिस्टों, चर्च–मिशनरियों, उग्रवादियों, आतंकवादियों, जिहादियों, माओवादियों के नियमित बचाव व प्रचार का साधन बन गई हैं। यह इतने लंबे समय से हो रहा है कि कई लेखक, पत्रकार, सामाजिक कार्यकर्ता, और भाजपाविरोधी नेता भी अनजाने उन्हीं विचारों को दुहराते रहते हैं, जिसे उन्होंने स्वयं कभी नहीं परखा है। अभी बड़े अंग्रेजी अखबारों द्वारा जेएनयू के गिरफ्तार छात्र के प्रति सहानुभूति उपजाना तथा सरकार का मजाक उड़ाना इसी का उदाहरण है।

●

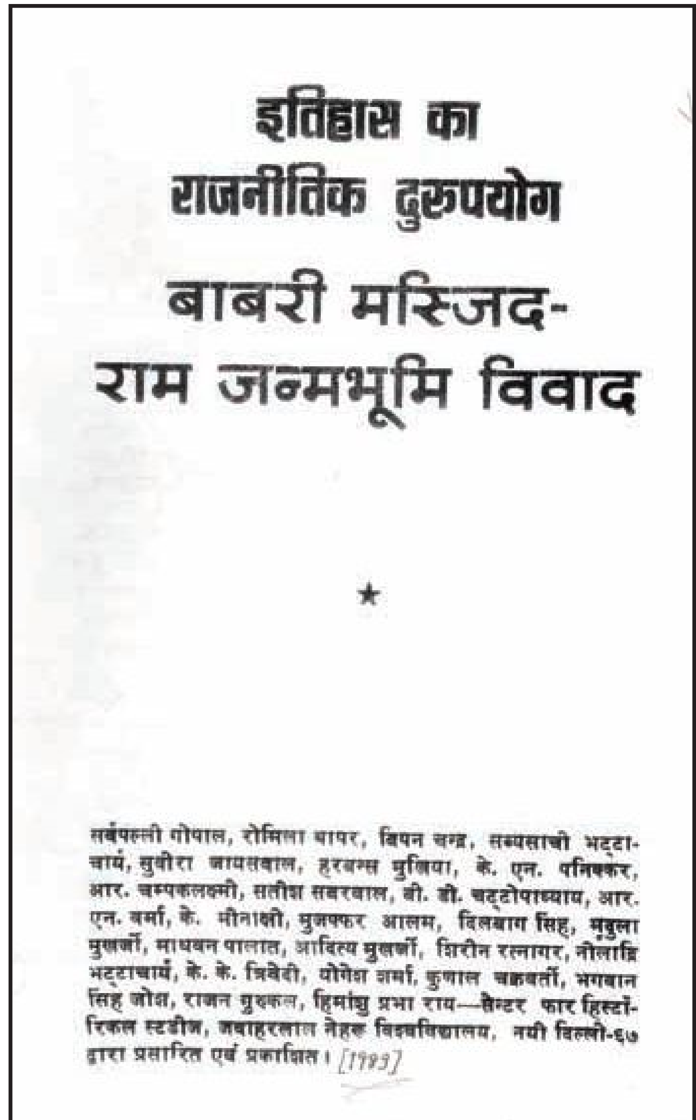
जेएनयू प्रोफेसरों का हानिकारक एक्टिविज्म

(उदाहरण अयोध्या–विवाद)

लंबे समय से जेएनयू में विविध छात्रों, संगठनों द्वारा भारतविरोधी नारेबाजी और हिन्दूविरोधी एक्टिवज्म के पीछे वह पाठ भी हें जो उन्हें विविध मार्क्सवादी और रेडिकल प्रोफेसर पढ़ाते रहे हैं। लेकिन, उन प्रोफेसरों ने भी खुद एक्टिविज्म का नेतृत्व किया है, और उस से देश की हानि की है। इस का एक प्रतिनिधि उदाहरण अयोध्या में रामजन्मभूमि–बाबरी मस्जिद विवाद है, जिस में जेएनयू प्रोफेसरों ने एक बड़ी, और हानिकारक भूमिका निभाई थी। वस्तुतः वह क्रम खत्म भी नहीं हुआ है। हाल में प्रतिष्ठित पुरात्तववेत्ता, तथा आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया के रिटायर्ड निदेशक के. के. मुहम्मद की आत्मकथा (मलयालम में) 'मैं एक भारतीय' प्रकाशित हुई है। इस में लिखी कुछ बातों से अयोध्या में रामजन्मभूमि–बाबरी विध्वंस के दोषियों पर कुछ और रोशनी पड़ी है। उस पर विचार करना चाहिए, क्योंकि एक तो अयोध्या मामला अभी खतम नहीं हुआ है। दूसरे, जिन्होंने उसका शान्तिपूर्ण समाधान होने से रोका, उन में सब से प्रमुख थे जेएनयू के मार्क्सवादी इतिहासकार। वे और उन के चेले आज भी कुछ वही भूमिका निभा रहे हैं। विध्वंस के रूप बदलते हैं, मगर भारतीय देशसमाज के प्रति उन की हिकारत, नकचढ़ी मुद्रा नहीं बदलती।

बहरहाल, के. के. मुहम्मद का मूल्यांकन किसी सामान्य व्यक्ति का कथन नहीं है। वे एक प्रतिष्ठित पुरातत्वविद और साँची स्तूप, बटेश्वर मंदिर, कुतुब मीनार, आदि कई ऐतिहासिक स्थलों के जीर्णोद्धार या अच्छी देख–रेख के लिए राष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित रहे हैं। इन्हीं ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि सन १९७६–७७ में ही अयोध्या के राम–जन्मभूमि–बाबरी मस्जिद वाले स्थल की खुदाई में ही उन्हें मंदिर के अनेक प्रमाण मिले थे। तब तक उस पर कोई

आंदोलन भी नहीं था। बाद में, जब आंदोलन उठा तब मुहम्मद ने वहाँ मंदिर रहे होने की बात प्रकाशित भी कराई थी। किन्तु तब जएनयू के बड़े मार्क्सवादी इतिहासकारों ने अगुआई कर पूरी ताकत लगाकर यह प्रचार करना शुरू किया कि वहाँ कभी कोई मंदिर नहीं था, और सारा आंदोलन हिन्दू संगठनों की बदमाशी है। यद्यपि, बाद में साक्ष्यों से अंततः न्यायालयों ने भी माना कि वहाँ मंदिर रहा था।



इतिहास का
राजनीतिक दुरुपयोग
बाबरी मस्जिद-
राम जन्मभूमि विवाद

★

सर्वपल्ली गोपाल, रोमिला थापर, बिपन चन्द्र, सब्यसाची भट्टाचार्य, सुवीरा जायसवाल, हरबन्स मुखिया, के. एन. पनिक्कर, आर. चम्पकलक्ष्मी, सतीश सबरवाल, बी. डी. चट्टोपाध्याय, आर. एन. वर्मा, के. मीनाक्षी, मुजफ्फर आलम, दिलबाग सिंह, मृदुला मुखर्जी, माधवन पालात, आदित्य मुखर्जी, शिरीन रत्नागर, नीलाद्रि भट्टाचार्य, के. के. त्रिवेदी, योगेश शर्मा, कुणाल चक्रवर्ती, भगवान सिंह जोश, राजन गुरुकल, हिमांशु प्रभा राय—सेन्टर फार हिस्टोरिकल स्टडीज, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली-६७ द्वारा प्रसारित एवं प्रकाशित। [1989]

मुहम्मद ने लंबे अवलोकन से पूरे प्रसंग पर जो टिप्पणी की, वह ध्यान देने योग्य है। वे कहते हैं कि जब तक मार्क्सवादी इतिहासकार उस मामले में नहीं कूदे थे, तब तक शान्तिपूर्ण समाधान के लिए मुस्लिम तैयार थे। प्रधान मंत्री राजीव गाँधी ने उस की तैयारी भी कर ली थी। यह इसलिए संभव था कि तथ्यों पर हिन्दू और मुस्लिम पक्ष मे मतभेद नहीं था। मंदिरों को तोड़ मस्जिद बनाने की बातें ऐतिहासिक सत्य हैं। दोनों समुदाय इसे जानते हैं। जिन तीन श्रद्धास्थलों – अयोध्या, मथुरा और काशी – को मुक्त कराने के लिए हिन्दू संगठन आंदोलन कर रहे थे, वहाँ अतीत में हुए अत्याचारों पर कोई संदेह नहीं रहा था। मथुरा के श्रीकृष्ण जन्म–स्थान मंदिर और काशी में विश्वनाथ मंदिर से तो आज भी दिखता है कि वहाँ क्या हुआ था। बहरहाल, दोनों पक्ष मानते थे कि बाबरी मस्जिद राम–जन्मभूमि मंदिर स्थल पर बनाई गई थी। विवाद मात्र समाधान के स्वरूप और जमीनी लेन–देन का था। लेकिन जेएनयू इतिहासकारों ने मुस्लिमों को यह कह कर समाधान से रोका कि हिन्दुओं का दावा झूठा है, और इसलिए समझौता करना गलत होगा।

१९८९ में रोमिला थापर, बिपिन चन्द्र, आदि जे.एन.यू. के २५ इतिहास प्रोफेसरों ने समवेत रूप से एक पुस्तिका प्रकाशित की – इतिहास का राजनीतिक दुरुपयोग (पोलिटिकल एब्यूज ऑफ हिस्टरी)। इस के प्रकाशक के रूप में बाकायदा सेंटर फॉर हिस्टोरिकल स्टडीज, जेएनयू, लिखा हुआ था!

इस प्रकार, जेएनयू के नाम का आधिकारिक उपयोग एक राजनीतिक एक्टिविज्म में किया गया। उस पुस्तिका में दावा किया गया, अब तक ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिला जिस से सिद्ध हो कि बाबरी मस्जिद उसी जगह बनाई गई जहाँ पहले मंदिर था। इस तरह, जेएनयू के मार्क्सवादी इतिहासकारों ने अयोध्या मुद्दे पर सदियों से फरियादी हिन्दुओं को ही कठघरे में खड़ा कर दिया! जो आरोप हिन्दुओं पर कभी, किसी ने नहीं लगाया न मुसलमानों, न अंग्रेजों ने वह मार्क्सवादी इतिहासकारों ने जड़ दिया! कि हिन्दू लोग झूठ–मूठ वहाँ राम–जन्मभूमि का नाम ले रहे हैं।

चूँकि यह दुष्प्रचार मीडिया द्वारा बड़े पैमाने पर फैला, इसलिए जेएनयू के नामी मार्क्सवादियों का बल पाकर मुस्लिम नेता अड़ गए! के. के. मुहम्मद के अनुसार, मार्क्सवादी इतिहासकारों और कुछ बड़े अखबारों के घातक संयोजन ने मुस्लिम समुदाय को बिलुकल गलत जानकारी दी। यदि वह न हुआ होता तो मुस्लिम शान्तिपूर्ण समाधान स्वीकार कर लेते। यदि यह हो गया होता, तो आज अनेक दूसरे मुद्दे जो देश झेल रहा है, सुलझ गए होते। इस अंतिम बात पर ध्यान दें, तब मुहम्मद के आकलन की गंभीरता का अंदाजा होगा कि अयोध्या पर जेएनयू का मार्क्सवादी हस्तेक्षप कितना घातक रहा।

स्मरणीय है कि भगवान राम की ऐतिहासिकता या अयोध्या में विवाद–स्थल पर मंदिर के प्रमाण का सवाल मुसलमानों ने नहीं खड़ा किया था। यह नया अड़ंगा मार्क्सवादियों की देन थी। उन के द्वारा मुसलमानों को उकसाने से ही समाधान असंभव हो गया। अगर १९८६–९२ के बीच की सभी सक्रियताओं को सिलसिलेवार देखें, तब ६ दिसंबर १९९२ की घटना उस झूठी जिद का परिणाम दिखेगी जो मार्क्सवादियों द्वारा प्रेरित की गई थी।

इधर वरिष्ठ नेता शरद पवार की आत्मकथा में भी आया है कि यदि १९९१ में चंद्रशेखर सरकार छः महीने भी और रही होती, तो अयोध्या–विवाद का समाधान हो जाता। विदित है कि १९९०–९१ में प्रधान मंत्री चंद्रशेखर ने अयोध्या विवाद

को प्राथमिकता देकर हल करने की कोशिश की थी। हिन्दू और मुस्लिम पक्षों को अपने–अपने दावों, प्रमाणों और पैरोकारों के साथ वार्ता पर बिठाया था। ऐसे भी अनेक मुस्लिम थे जो मसले को सहानुभूति से तय करने के हामी थे। वे हिन्दुओं को चुनौती देकर नहीं, बल्कि व्यावहारिक हल की तलाश में थे। संभावित समाधानों पर चर्चा चल रही थी, जिस से दोनों पक्षों का सम्मान रहता और समस्या हल हो जाती। कुछ विकल्पों पर कई हिन्दू–मुस्लिम सहमत भी दिख रहे थे। इसलिए जब चंद्रशेखर १९९० में प्रधानमंत्री बने, तो उन्होंने गंभीरता पूर्वक दोनों पक्षों को साथ बिठाया। बातचीत के जो आधार बनाए गए, जो विचारविमर्श हुआ, उस से बहुतों का मानना है कि यदि चंद्रशेखर सरकार कुछ समय और रहती तो विवाद हल हो गया होता।

हालाँकि, जब नरसिंह राव की अगली सरकार बनी तो उन्होंने भी सितंबर १९९२ में केन्द्र सरकार का एक अयोध्या सेल बनाया। इस मामले में अब तक हुए काम और उपलब्ध सामग्रियों की समीक्षा करके यह सेल तुरत जिन प्रारंभिक निष्कर्षों पर पहुँचा उन में से एक यह था मार्क्सवादी इतिहासकार अयोध्या विवाद के समाधान के लिए तथ्यों पर केंद्रित होने की बजाए अपनी सेक्यूलर धारणाओं और वैचारिकता के प्रति अधिक आग्रही हैं (संडे साप्ताहिक, १० अक्तूबर १९९२)। क्या अब भी कहने की जरूरत है कि अयोध्या विध्वंस के असली जिम्मेदार यही दुराग्रही, पर प्रभावशाली विशेषज्ञ थे जिन्होंने मुसलमानों को उकसा कर संभव समझौते को असंभव बना दिया?

पूरे प्रसंग पर इसलिए विचार करना चाहिए क्योंकि वही मार्क्सवादी, और चारो तरफ फैले उनके रेडिकल, वामपंथी चेले आज भी उसी तरह, उसी मानसिकता से सक्रिय हैं। वे हर मुद्दे पर हिन्दू–मुस्लिम समुदायों के बीच जहर भरने का काम करते हैं। किसी भी झूठी–सच्ची घटना की आड़ में उनका रुख सदैव मुसलमानों को भड़काने तथा हिन्दुओं के विरुद्ध घृणा फैलाने वाला होता है। हाल में अखलाक, पुरस्कार–वापसी अभियान, असहिष्णुता, रोहित या संसद पर हमला करने वाले आतंकी अफजल को हीरो बनाना, आदि किसी भी प्रश्न पर उन के द्वारा कही जाती बातों पर ध्यान दें। ठीक वही आग–लगाऊ, भारत–विरोधी रवैया देखा जा सकता है। तथ्य कम, या नदारद, लेकिन हिन्दू–विरोधी लफ्फाजी की भरमार। उन की इस प्रवृत्ति को देखते हुए मुहम्मद के अवलोकनों की गंभीरता समझनी चाहिए।

अयोध्या मुद्दे पर बाद में न्यायालय में भी मार्क्सवादियों ने स्वीकार किया कि उन्होंने मामले का स्वयं कभी, कोई अध्ययन या शोध नहीं किया था। उन में से कई ने तो कभी अयोध्या वाली जगह देखी तक नहीं थी, न वहाँ की पुरातत्विक सामग्री देखने–समझने की कोशिश की। फिर भी, वे वहाँ मंदिर न रहे होने के फतवे लगातार देते रहे हैं! क्या ऐसे लोगों का चरित्र पहचानकर, और सावधान नहीं रहना चाहिए, जिन्होंने केवल अयोध्या विवाद में ही नहीं, उस से पहले और बाद में भी देश के लिए विध्वंसक भूमिकाएं निभाई हैं? ने केवल राजनीति, बल्कि शिक्षा में भी।

इस बिन्दु पर ध्यान देना आवश्यक है क्योंकि आज भी देश में लगातार मुसलमानों, ईसाइयों में हिन्दू विरोधी भावनाएं भरने की सक्रियता तेज हो रही है। दादरी में अखलाक की हत्या हो, या हैदराबाद में रोहित की आत्महत्या मार्क्सवादी महानुभावों की जिद क्या है? वही, बिना तथ्यों की परवाह किए हिन्दू धर्म, समाज के विरुद्ध कीचड़ उछालना। जिस तरह रोहित के अपने अंतिम पत्र या रिकॉर्ड को अनदेखा कर येन–केन हिन्दू धर्म–समाज को दोषी ठहराने की कोशिश हो रही है, उस में राजनीतिक उद्देश्यों की तीखी गंध है। साथ ही, जैसे तब अयोध्या अभियान पर हुआ था, अभी भी अंग्रेजी मीडिया का एक वर्ग उसी उत्साह से हिन्दूविरोधी अभियान चला रहा है।

ठीक इसीलिए, देश के जिन अखबारों, पत्रिकाओं ने अयोध्या विवाद पर जेएनयू इतिहासकारों की लफ्फाजी को सैकड़ों बार प्रमुखता से दुहराया, वे मुहम्मद के अवलोकनों पर बिलकुल ठंढे पड़े रहे। यही पहले भी हुआ है। खुदाई के नए प्रमाण हों या न्यायालय के निर्णय, जब भी विवादित अयोध्या स्थल पर मंदिर के दावे की पुष्टि हुई, तब उन्हीं अखबारों, पत्रकारों ने उन इतिहासकारों को कोयले पर नहीं घसीटा। जो होना चाहिए था। आखिर जिन लोगों ने बढ़–चढ़कर इतिहास के तथ्यों पर दावे किए, जब वे पूरी तरह झूठे साबित हुए, तब क्या उन की खिंचाई नहीं होनी चाहिए थी?

चूँकि मार्क्सवादियों को अपने घोर गैर–जिम्मेदाराना कामों का भी कभी हिसाब नहीं देना पड़ा, इसीलिए आज भी वे उसी धृष्टता से, वही काम कर रहे हैं। आतंकी अफजल को हीरो बनाना उन्हीं की शह पर हुआ है, इसे ध्यान रखना चाहिए। जेएनयू में उन्होंने भोलेभाले नवयुवाओं को यही सब पढ़ाया, सिखाया है। अतः इन बातों को नजरअंदाज करना हमारे मीडिया की गैर–जिम्मेदारी भी है। मानो देश के

भवितव्य से उस का कोई लेना–देना नहीं हो। मानो केवल संघ–भाजपा की खिल्ली उड़ाने, और मामूली बातों पर उत्तेजना फैलाने में, इस नेता या उस दल की मिट्टी पलीद करने में ही उसे रस मिलता हो। मगर उन्हें अपने वैयक्तिक, सामाजिक उत्तरदायित्व पर भी कभी विचार करना चाहिए।

कई बार किसी घटना में मात्र एक तत्त्व की भूमिका निर्णायक हो जाती है। जैसे, केवल एक वोट से सरकार गिर सकती है, उसी तरह एक गलत कदम से कोई विवाद सुलझने के बदले लंबी, क्रमबद्ध अशांति में बदल सकता है। अयोध्या में राम–जन्मभूमि–बाबरी मस्जिद विध्वंस वैसी ही घटना थी। जिस में जेएनयू इतिहासकारों को मनमाने खुला खेलने की छूट देने के विध्वंसकारी परिणाम हुए।

पत्रकारों को इस पर सोचना चाहिए कि अपने सेक्यूलरवादी, हिन्दू–विरोधी पक्षपात से वे किसे मजबूत और किसे कमजोर करते हैं, तथा निरंतर यही करते रहने से जनता में ऐसे दोहरेपन की क्या प्रतिक्रिया होती है? जब वे इस पर मनन करेंगे, तभी समझ पाएंगे कि रामजन्मभूमि–बाबरी मस्जिद के विध्वंस या गुजरात दंगे जैसी परिघटनाएं लंबे समय से जमा होते उस क्षोभ का ही फल थीं, जिस में मार्क्सवादियों के साथ–साथ सेक्यूलरवादी, हिन्दू–द्वेषी मीडिया महानुभावों की भी उतनी ही भूमिका थी। क्या आज भी वे केवल हिन्दू धर्म, समाज, रीतियों पर ही सदैव कटाक्ष करते रहने में ठीक वैसा ही नहीं कर रहे हैं? जबकि ईसाइयत या इस्लाम से जुड़ी भयावह परंपराओं पर भी एक शब्द नहीं बोलते – चाहे हजारों शाह बानो, इमराना, जरीना, हसीना, आदि की तबाही होती रहे। इस दोहरेपन पर हिन्दू समाज में जो क्रोध एकत्र होता है, उस के दोषी मीडिया सरदार भी हैं।

दार्शनिक सेंटायना की उक्ति प्रसिद्ध हैः जो इतिहास से नहीं सीखते, वे वही इतिहास दुहराने के लिए अभिशप्त रहते हैं। विगत अनेक दशकों में मार्क्सवादियों, रेडिकलों, सेक्यूरवादियों, आदि हिन्दू–द्वेषी राजनीतिक ताकतों की सक्रियता के हानि–लाभ का हिसाब हमें, विशेषकर पत्रकारों को करना ही चाहिए। अयोध्या विध्वंस में जेएनयू मार्क्सवादियों की घातक भूमिका उदाहरण मात्र है, जिस के निष्कर्ष शिक्षाप्रद हैं। ऐसे अनेक प्रसंग दिखाए जा सकते हैं। पर उन सब को अनेदखा कर किसी भी मुद्दे पर केवल इंडियन स्टेट और हिन्दू धर्म–परंपरा को लांछित करने के अभियान में वही मूढ़ता है।

●

जेएनयू में अफजल–पूजा का अर्थ

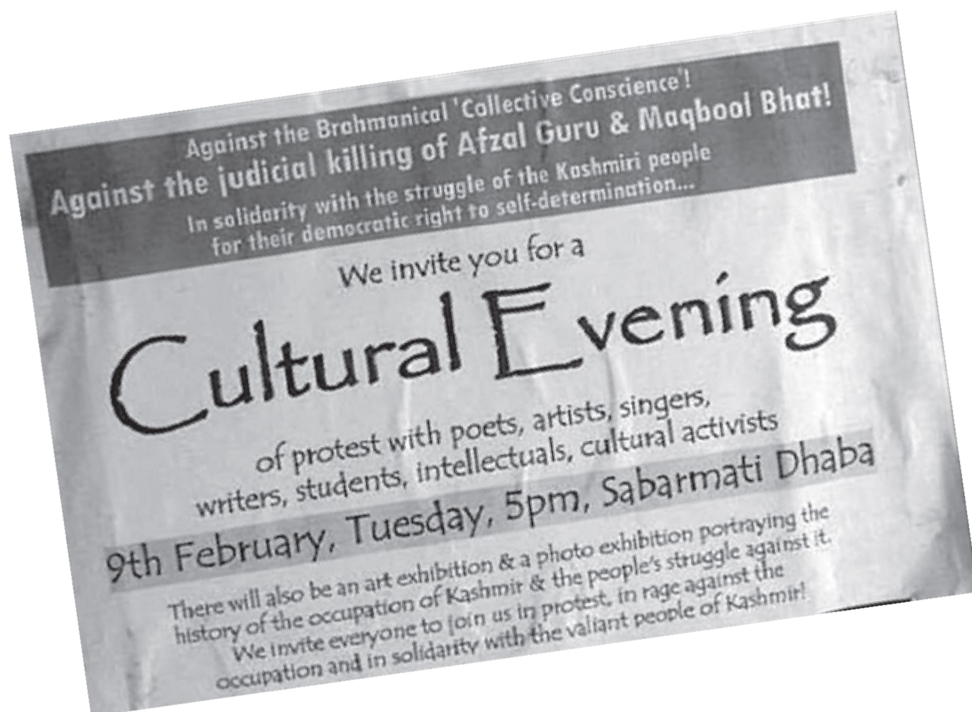
जेएनयू में संसद पर हमला करने वाले आतंकवादी मुहम्मद अफजल को हीरो बनाने के विशेष निहितार्थ हैं। इसे ठीक से समझा जाना चाहिए। अफजल न तो संदिग्ध आतंकवादी था, न ही पश्चातापी। उसने न्यायालय के अंतिम फैसले के बाद भी निस्संकोच कहा था कि उसे मौका मिले, तो फिर वही करेगा। अतः अफजल को महिमामंडित करने वालों का इरादा शीशे की तरह साफ है कि भारत को नष्ट करना, तथा इस पर इस्लामी साम्राज्यवाद का कब्जा बनाना अथवा बनाने में सहयोग देना। जेएनयू के रेडिकल छात्र, उसे सरपरस्त प्रोफेसर यह समझ कर ही अफजल नायक बना रहे हैं। इस के गंभीर निहितार्थ बिलकुल स्पष्ट हैं।

साथ ही, अफजल पर होने वाली सेक्यूलर राजनीति से वह पैटर्न भी पुनः स्पष्ट होता है, जिसे देखने से हमारा मीडिया, विद्वत वर्ग और नेतागण सभी इंकार करते हैं। इंकार करके उसे और मजबूती तथा विश्वास प्रदान करते हैं। यह पैटर्न हैः पूरे भारत की राजनीति पर इस्लामी विशेषाधिकार थोपना। जेएनयू, जाधवपुर तथा अंग्रेजी मीडिया के एक हिस्से द्वारा जेएनयू में अफजल महिमामंडन पर उलटे सरकार तथा हिन्दू संगठनों की छीछालेदर उस विशेषाधिकार की स्वीकृति ही है।

लंबे समय से इस पूरे पैटर्न के सभी चरणों को साफ–साफ पहचाना जा सकता है। पहला, किसी भी आतंकी कांड के बाद होने वाली धर–पकड़ में यदि कोई मुस्लिम पकड़ा जाता है, तब विभिन्न संगठन, नेता आदि फौरन बयान देते हैं कि निर्दोष मुसलमानों को तंग किया जा रहा है। जैसे अभी–अभी एक बड़े मुस्लिम नेता ने प्रधान मंत्री से मिल कर कहा कि इस्लामी स्टेट (आईसिस) से जुड़ी धड़–पकड़ में निर्दोष को परेशान न किया जाए। दूसरे चरण में, जब

जाँच–पड़ताल पर पुख्ता प्रमाण मिलते हैं तब कहा जाता है कि असली दोष तो आतंकी का नहीं, बल्कि इंडियन स्टेट का है जो मुसलमानों प्रति भेद–भाव करती है, कश्मीरियों को सताती है, आदि। उसी से क्षुब्ध होकर कुछ मुसलमान प्रतिकार के लिए उठ खड़े होते हैं। अतः उन की हिंसा प्रतिक्रिया है, अपराध नहीं। इसलिए केंद्र को ऐसा या वैसा करना चाहिए, ताकि कश्मीरी राहत महसूस करें, आदि।

तीसरे चरण में, जब किसी पक्के आतंकवादी को पूरी न्यायिक प्रक्रिया के बाद अदालत से सजा सुनाई जाती है, तब सजा सुनाने वाले न्यायाधीशों की हत्या होने



की संभावना (फारुख अब्दुल्ला का कथन) जैसी सांकेतिक धमकियों से लेकर खुले आंदोलन तक हर चीज का सहारा लिया जाता है। ताकि आतंकी को बचाया जाए। फिर भी, अंततः जब उसे मृत्युदंड दे दिया जाए, तब उसे नायक बनाने तथा पूरी भारतीय न्यायपालिका, राजनीतिक तंत्र को ही हत्यारा कहकर आंदोलन शुरू होता है। इसे बड़े–बड़े मुस्लिम नेता मौन या मुखर समर्थन देते हैं। जहाँ उन का बस चले, जैसे कश्मीर, वहाँ इस नजरिए को राजकीय समर्थन देकर राज्य के बंद और विधान सभा में उसे आतंकी को सम्मान देने जैसे कार्य भी बेधड़क होते हैं।

यह सारे चरण मुहम्मद अफजल प्रसंग में इकट्ठे देख सकते हैं। यह भी, कि देश के अनेक नेता तथा अंग्रजी मीडिया विचित्र रुख लेकर वैसे आतंकवादी, तथा उसे हीरो बनाने वालों के ही पक्ष में ही सहानुभूति उड़ेलने लगते हैं। यह देश के

भीतर से ध्वस्त होने की दिशा में बढ़ने का संकेत है । क्योंकि इन नेताओं, मीडिया महानुभावों का देश भर में मान–सम्मान है। अतः अनायास नहीं कि कश्मीरी मुस्लिम पूरे भारत को अपने चाकर की तरह समझते हैं, जिसे उन की हर इच्छा माननी होगी। उस में संविधान, कानून, न्याय, सामान्य बुद्धि, आदि किसी का कोई महत्व नहीं। देश और देशभक्ति तो, खैर, इस्लाम के समक्ष कोई चीज वैसे भी नहीं है !

इसीलिए कश्मीरियों का स्थायी पैंतरा मुहम्मद अफजल प्रसंग में संपूर्णतः देखा जा सकता है। इस में उनके द्वारा भारतीय संविधान, न्यायतंत्र और जनभावना की खुली अवमानना के साथ–साथ दबंग मुद्रा में आतंकवाद के साथ खुली भाईबंदी भी जाहिर है। अफजल पर कश्मीरी मुसलमानों की पूरी राजनीति शीशे की तरह पारदर्शी बोलती है – हम तुम्हें मारेंगे, तुम्हारी संसद और नेताओं, मंत्रियों तक की हत्या करना चाहेंगे, मगर तुम हमें कुछ न कहो! यदि कहोगे, तो हम तुम्हारी फजीहत करेंगे और तुम्हें ही अपराधी बताएंगे। अलग–अलग शब्दों में, अंदाज में, अधिकांश कश्मीरी नेताओं ने यही रुख दिखाया है।

नेशनल कांफ्रेंस का सर्वोच्च नेता कहता है कि अफजल साहब को फाँसी देने से कश्मीरी लोग अलगाव और अन्याय महसूस कर रहे हैं; दूसरा कश्मीरी नेता पाकिस्तान जाकर मुंबई आतंकी कांड रचने वाले के साथ मंच पर बैठ कर अफजल का शोक मनाता है। बाकी कश्मीरी भी अपने–अपने तरीके से रंज दिखाते हैं। कांग्रेस के नेता अफजल जी कह कर उस आतंकी का उल्लेख करते हैं, जिसे अपने किए का कोई पछतावा न था। बल्कि जिस ने कहा था कि उसे मौका मिले, तो फिर वही काम करेगा।

ऐसी स्थिति में जब अंग्रेजी मीडिया, राहुल गाँधी और कई नेता, बुद्धिजीवी उस आंतकी तथा उसे हीरो बनाने वाले मूर्ख छात्रों या आई.एस.आई. एजेंटों के प्रति समर्थन व्यक्त करते हैं, तब समझने के लिए कुछ नहीं बच जाता। कि उदारवादी और आतंकवादी कश्मीरी या मुसलमान की शब्दावली केवल प्रपंच है। जब संसद पर खुलेआम आतंकी हमला कर भारतीय नेताओं का सामूहिक संहार करने की कोशिश करने वाले के लिए कश्मीरियों में ऐसी श्रद्धा है, तब तो कश्मीर में हिन्दुओं का सफाया करना तथा सुरक्षा बलों पर हमला करना वे अपना जन्मसिद्ध अधिकार ही समझते होंगे!



ऐसी स्थिति में विचार–विमर्श की सारी शब्दावली नकली हो जाती है। हमारे नेताओं, बुद्धिजीवियों की बनावटी बातों और कथित सुपरपॉवर बनने या विकास करने के ढकोसले के बावजूद दुनिया के सामने हमारी दुर्बलता बेपर्दा हो जाती है।

सर्वविदित है कि दुनिया के सम्मानित देश अपनी संसद या संप्रभुता पर हमला करने वालों वालों को क्या उत्तर देंगे। युगों–युगों से स्थापित नियम है कि राज्य की रक्षा बल से होती है – वीर भोग्याः वसुंधरा। यदि बल नहीं, सैन्य और आत्मबल दोनों, तो राज्य आपका नहीं रहेगा, यह दुनिया का निरपवाद अनुभव है। अतः शत्रु बाहर का हो या घर का, उसे खत्म करना या कारागार देना यही राजधर्म है। नकली मुहावरे, निर्वीर्य विनम्रता और झूठे सिद्धांत इसे छिपा नहीं सकते।

दुष्ट, अहंकारी या उद्दंड को दंड के बजाए पुचकार विपरीत फलदायी होती है। शठे शाठ्यम समाचरेत – कहावतें ऐसे ही नहीं बनतीं। उन के पीछे सदियों के अवलोकन से बनी ठोस सच्चाई होती है। संत तुलसीदास ने भी लिखा था, बोले राम सकोप तब भय बिनु होइ न प्रीति। उन्होंने इसी को कहीं और दूसरी तरह कहा, टेढ़ जानि शंका सब काहू, वक्र चंद्रमा ग्रसहिं न राहू।

अतः सोचिए, जब मनुज रूप में भगवान को भी किसी दुष्ट, अहंकारी के लिए

प्रीति का आधार पहले अस्त्र–बल को बनाना पड़ा, तब हमारे खादी या सफारी–धारी, या कल्मघिस्सू बुद्धिजीवी और चिल्लाऊ टी.वी. पत्रकार कौन सी चीज हैं!

कश्मीर में दो दशकों से चल रही जोर–जबर्दस्ती भारत के विरुद्ध युद्ध है। यह युद्ध बाहरी आक्रमणकारी कुछ भीतरी शक्तियों के सहयोग से चला रहे हैं। इस में बाहरी और भीतरी का भेद करना परम मूर्ख बनना है। राजद्रोहियों, पाँचवें दस्तों, क्विंसलिंग, जयचंदों आदि के लिए सारी दुनिया की राज्य परंपरा और भी कठोर दंड रखती आई है। पर गाँधीजी का अनुकरण करते हमारे सभी नेता, बुद्धिजीवी उन्हें सदभाव से जीतने का वही हास्यास्पद प्रयास करते चले रहे हैं।

डॉ. राम मनोहर लोहिया ने इसी प्रवृत्ति पर कहा था कि आत्मसमर्पण को सामंजस्य समझना परले दर्जे की मूर्खता और निर्लज्ता है। यही प्रवृत्ति भीतरी, बाहरी आक्रामकों की भूख और बढ़ाती है। पाकिस्तान बनाने की स्वीकृति से कश्मीर की भूख पैदा हुई। कश्मीर ले लेने पर असम के लिए पैदा होगी। फिर शेष बंगाल...। यह प्रक्रिया खत्म होने वाली नहीं। क्योंकि वीर भोग्या वसुंधरा। यह केवल भारतीय शास्त्रों ने ही नहीं कहा। बैरी भी यही कहते हैं।

वस्तुतः आसुरी शक्तियों, दुष्टता और अधर्म को आँख मिलाकर न देखना और उस के प्रतिकार का दृढ़ उपाय न करना, कठिन प्रश्नों पर निर्भय होकर विचारविमर्श तक न करना यह पिछले सौ वर्ष से हिन्दू भारत की मूल दुर्बलता रही है।

श्रीअरविन्द ने कहा था, हमने शक्ति को छोड़ दिया है और इसलिए शक्ति ने भी हमें छोड़ दिया है। रामायण, महाभारत, नीतिशतक समेत प्रत्येक महान शिक्षा को भुलाकर हमने दुष्टों, आततायियों को सहने की नीति अपना ली। यह धर्म नहीं, अधर्म है। इसीलिए भारत को बार–बार लज्जित होना पड़ता है। भारत विभाजन से लेकर, १९४८, १९६२, १९६५, कारगिल और विगत दो दशक से कश्मीर यह सभी एक ही दुर्बलता के भिन्न रूप हैं। हमारे सभी कर्णधार आततायों की खुशामद कर काम निकालना चाहते हैं। यह भीरुता सारे जिहादी, उग्रवादी, अलगाववादी जानते हैं। अफजल पर कश्मीरियों का गर्मी दिखाना इसी जानकारी के बल पर है।



अकादमिक स्वायत्तता का दुरुपयोग

जेएनयू में नवीनतम भारत–विरोधी कांड, आतंकी मुहम्मद अफजल के पक्ष में तथा भारत तेरे टुकड़े होंगे, इंशाअल्लाह, इंशाअल्लाह तथा भारत की बरबादी तक, कश्मीर की आजादी तक, जंग करेंगे, जंग करेंगे की नारेबाजी के बाद देश में जेएनयू की भारी बदनामी हुई है। लेकिन ऐसी घटनाएं वहाँ पहली बार नहीं हुई। पहले भी अनगिनत हो चुकी है। यदि विश्वविद्यालय प्रशासन ने कोई रिकॉर्ड रखा हो, तो विगत सोलह वर्षों में ही भारत–मुर्दाबाद! के नारे वहाँ सैकड़ों बार उच्चरित हुए। हिन्दू–धर्म के विरुद्ध छींटा–कशी, विषवमन, आदि का तो कोई अंत ही नहीं रहा है। मौखिक और लिखित दोनों। इसलिए, इस नये, अफजल–पूजा समारोह के बाद देश भर में जेएनयू के विरुद्ध रोष उठना सब्र का प्याला भर जाने जैसी बात है।

जेएनयू के वामपंथी प्रोफेसर अपनी बयानबाजियों से और बुरा कर रहे हैं। प्रो. हरबंस मुखिया ने अहंकारपूर्वक से याकूब मेमन और मुहम्मद अफजल दोनों का बचाव किया और घृणा से भर कर भारत सरकार को खरी–खोटी सुनाई। कुछ प्रोफेसर भारत के टुकड़े करने वाली नारेबाजी को अंदरूनी मामला मानकर पुलिस प्रशासन पर दबाव डाल रहे हैं कि मामला रफा–दफा करे। वे विश्वविद्यालय में बाहर से आकर भारत–विरोधी साजिश करने वाले जिहादियों और उन्हें सहयोग देने वाले वामपंथी छात्रों का बचाव ऐसे कर रहे हैं जैसे वह मामूली शरारत, या वह भी न हो। इन प्रोफेसरों का रवैया संयोग नहीं। प्रो. रोमिला थापर ने १९९३ में फ्रांस के प्रसिद्ध अखबार ल मोंद को इंटरव्यू में प्रसन्नतापूर्वक भविष्यवाणी की थी, कि भारत एक नहीं रहेगा। यानी, जेएनयू प्रोफेसरों में कई स्वयं वैसे ही विचार रखते पालते हैं। कई पहले छात्र के रूप में उसी कैंपस में वैसी ही नारेबाजी करते रहे हैं। इसलिए भारत–विरोधी गतिविधियों का बचाव करते हुए वास्तव में वे अपना बचाव कर रहे हैं।

इस क्रम में, वे घिसे रिकॉर्ड की तरह बार–बार अभिव्यक्ति स्वतंत्रता या विश्वविद्यालय की स्वायत्तता की दलील देते हैं। कम्युनिस्ट मतवाद के चर्बी–चर्वण ने उन की मति हर ली है। यह उन के द्वारा बनाए समाज विज्ञान व मानविकी पाठ्यक्रम, पाठ्य–सूची तथा गोष्ठी–सेमिनारों में ही नहीं, उन की सार्वजनिक दलीलों में भी देखा जा सकता है। लेकिन जिस देश ने उन्हें अभिव्यक्ति स्वतंत्रता दी है, उसी के टुकड़े करने की नारेबाजी मूर्खता है या धूर्तता? कई प्रोफेसरों ने या तो उस नारेबाजी का समर्थन किया या उसे मौन तरह दी है। जेएनयू शिक्षक संघ ने आज तक किसी कार्यक्रम द्वारा भारत मुर्दाबाद या इस के टुकड़े करने जैसी बातों के विरुद्ध छात्र–संगठनों को समझाने का कार्य नहीं किया। दूसरी ओर, कई देशभक्त मनीषियों अथवा नेताओं, संगठनों के विरुद्ध दुष्प्रचार स्वयं उन प्रोफेसरों ने किया है।

प्रोफेसरों की दलील में बुनियादी गलती यह भी है कि वे विश्वविद्यालय की स्वायत्तता को राजनीतिक स्वायत्तता जैसी परिभाषित कर रहे हैं! मगर संविधान और संसद ने उन्हें अकादमिक स्वायत्तता दी है, न कि राजनीतिक। अतः प्रोफेसर या तो चतुराई दिखा रहे हैं या अज्ञान। हर हाल में, जिस संसद ने उन्हें स्वायत्तता दी है उसी संसद पर हमला करने वाले जिहादी आतंकी को हीरो बनाना, और कश्मीर की आजादी का अभियान चलाना; यह सब निस्संदेह घातक राजनीतिक गतिविधियाँ है। जिस के लिए विश्वविद्यालय नहीं बनाया गया था। अतः चाहे नागरिक के रूप में रेडिकल प्रोफेसरों व उन के चेलों को चित्र–विचित्र बातें बोलने, नारे लगाने, आदि की स्वतंत्रता है। लेकिन उस के लिए विश्वविद्यालय की जमीन, सुविधाओं, संसाधनों तथा नाम का उपयोग करना बिलुकल गलत है।

यह भी स्मरणीय है कि कि डॉ. राधाकृष्णन की अध्यक्षता में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (१९४८) की अनुशंसा में यह भी लिखा था कि विश्वविद्यालय के छात्र संघों को राजनीतिक उद्देश्य और गतिविधियों से मुक्त रखना चाहिए। उसी आयोग के निर्देश से स्वतंत्र भारत में विश्वविद्यालय गठित किए गए। अतः विश्वविद्यालय की गतिविधियों का राजनीतिकरण न केवल शिक्षा के उद्देश्यों के विरुद्ध है, बल्कि विश्वविद्यालय के नियमों के विरुद्ध भी है।

वैसे भी, जिस तरह न्यायालयों, प्रशासकों से राजनीति–मुक्त कार्य की अपेक्षा की जाती है, उसी तरह विश्वविद्यालयों से भी। अन्यथा शिक्षा चौपट होगी। जेएनयू इसी का प्रमाण है। वहाँ विगत दशकों की गतिविधियाँ दिखाती हैं कि अकादमिक

स्वायत्तता को राजनीतिक एक्टिविज्म के काम में बदल दिया गया है। जैसा ऊपर, राम जन्मभूमि–बाबरी मस्जिद विवाद के प्रसंग में देख चुके हैं, यह सब करने–करवाने वाले छात्र नहीं, बल्कि मूलतः वहाँ के प्रोफेसर थे।

इसलिए, जेएनयू की अकादमिक स्वायत्तता को राजनैतिक स्वायत्तता में बदल लेने की कुटिलता खत्म करना जरूरी है। वहाँ समाज विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा राजनीतिक उद्देश्यों की सेवा में समर्पित की जा चुकी है। इसीलिए वहीं से ऐसे समाचार आते हैं, जब कि दिल्ली में ही दर्जन भर विश्वविद्यालय हैं। आखिर शेष जगहों में शिक्षकों, छात्रों में ऐसे विचार क्यों नहीं आते कि वे कश्मीर को मुक्त कराने, या माओवादियों द्वारा हमारे सुरक्षा बलों की हत्या का जश्न मनाने, या अफजल साहब की पूजा करें? क्या दिल्ली में और सभी शिक्षण संस्थान बुद्धिहीन या गुलाम हैं, और केवल जेएनयू में बुद्धि व अकादमिक स्वतंत्रता है?

ऐसी दलील इसलिए भी गलत होगी क्योंकि वही प्रोफेसर व छात्रनेता जब जेएनयू छोड़ कहीं और चले जाते हैं, तो उन की वही बुद्धि कुछ नहीं पैदा करती! जबकि उन्हें स्वतंत्रता तो पूरे देश में उपलब्ध है! तब केवल जेएनयू में स्वायत्तता ऐसा कुत्सित परिणाम कैसे देती है कि उसे उदारतापूर्वक धन देने वाले राष्ट्रपति को ही खुले आम गाली दे और किसी प्रधान मंत्री (इंदिरा गाँधी) या वित्त मंत्री (पी. चिदम्बरम) को विश्वविद्यालय न आने दे? यह तो साफ राजनीतिक जबर्दस्ती और प्रपंच है।



जेएनयू में निरंतर कुछ ऐसा होता रहा है, जो देश के जनमत तो दूर, स्वयं विश्वविद्यालय की चौहद्दी में भी लोगों की समझ से मेल नहीं खाता। जेएनयू परिसर के चारो ओर धनी, गरीब, शहरी, ग्रामीण, मध्यवर्ग और देश भर के संघर्षशील युवा भी रहते हैं। इन

इलाकों – वसन्त विहार, मुनीरका, कटवरिया और वसन्त कुंज – में लोग उन राजनीतिक विचारों से सहमति नहीं रखते जो जेएनयू छात्र संघ का नियमित रुख रहा है। अफजल की फाँसी के बाद जेएनयू छात्र संघ ने आधिकारिक पोस्टर लगाकर राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी को कायर हत्यारा कहा था। कैंपस से बाहर ऐसा पोस्टर लागने में वे पिट जाते! मगर जेएनयू में यह करना न केवल सामान्य है, बल्कि शान और बौद्धिकता का प्रतीक है।

लेकिन समझने में कोई गलती नहीं करनी चाहिए कि अकादमिक स्वायत्तता की आड़ में जेएनयू कैंपस को भारत–विरोधी गतिविधियों का सुरक्षित अड्डा बने रहने देना देश के लिए आत्मघात समान है। शिक्षा का नाश तो यह है ही। जेएनयू की विचित्र मानसिकता किसी गहन बौद्धिकता का परिणाम नहीं, बल्कि दशकों के संगठित राजनीतिक प्रयत्न से भारत–विरोधी बनाई गई है। यह कम्युनिस्ट प्रोफेसरों द्वारा शिक्षा के घोर राजनीतिकरण का मामला है, जो अकादमिक स्वायत्तता का दुरुपयोग करके हुआ।

सुप्रीम कोर्ट ने भी अपने निर्णयों में विश्वविद्यालयों को विद्वत् स्वतंत्रता (एकेडेमिक फ्रीडम) की बात कही है। विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने भी विश्वविद्यालयों को सर्वोच्च बौद्धिक उपलब्धियाँ प्राप्त करने के लिए स्वतंत्रता देने की अनुशंसा की थी। लेकिन हमारे नेताओं के अज्ञान, आलस्य और दलबंदी का लाभ उठाकर वामपंथी प्रोफेसरों ने इस का अर्थ तोड़–मरोड़ कर राजनीतिक प्रोपेगंडा की स्वतंत्रता में बदल डाला। धीरे–धीरे दुस्साहस इतना बढ़ गया कि खुली भारत–विरोधी गतिविधियाँ भी इसी आड़ में चल रही हैं। सामाजिक–मानविकी विषयों में विश्वविद्यालय के असली काम, शिक्षा और शोध की गुणवत्ता चौपट की जा चुकी है। कम्युनिस्टों की अपनी राजनीति के कमजोर हो जाने के बाद देश के दुश्मन उन का नियमित उपयोग कर रहे हैं। जेएनयू का नया कांड इसी का उदाहरण था।

अभी समय है कि संसद में बैठे नेता लोग दलीय संकीर्णता से ऊपर उठकर शिक्षा को राजनीतिकरण की जकड़ से मुक्त करें। नहीं तो, मुहम्मद अफजल के महिमामंडन से साफ है कि उन की संसद का अस्तित्व ही खतरे में है! जहाँ जाने और बने रहने के लिए वे हर तरह की जोड़–तोड़ करते रहते हैं।

●

समाधान पर विचार

सच यह है कि जेएनयू जैसी गड़बड़ी कमो–बेश अनेक विश्वविद्यालयों, और कई अकादमिक संस्थाओं में फैल गई है। यह स्वतः भी हुआ है, यानी अंदरूनी वामपंथी और सेक्यूलरी राजनीति की गतिवविधियों के परिणामस्वरूप। साथ ही, देश के बाहर के तत्वों की प्रेरणा, प्रलोभन तथा संगठित उकसावे के बल पर भी। उन में कई तत्व भारत के हितैषी नहीं, बल्कि किसी न किसी प्रकार के शत्रु ही हैं। जैसे, चर्च–मिशनरी संस्थाओं द्वारा बनाए गए शोध–संस्थान, जो दलित–विमर्श, स्त्री–विमर्श, आदिवासी शोध तथा मानवाधिकार शिक्षण, आदि नामों पर गलत या अतिरंजित अत्याचार साहित्य गढ़ते हैं, ताकि हिन्दू समाज को विभक्त, भ्रमित और कमजोर किया जा सके, ताकि इसे तोड़ कर धीरे–धीरे ईसाई बनाया जा सके। इन संस्थाओं के साथ जेएनयू के समाज विज्ञान शिक्षण विभागों का गहरा, काम–काजी संबंध है।

अतः उपर्युक्त गड़बड़ियों के संदर्भ में कुछ तात्कालिक तथा कुछ दूरगामी उपायों पर विचार करना चाहिए।

एक तो यह कि विश्वविद्यालयों में राजनीतिक गतिविधियों के लंबे, हानिकारक अनुभव से इस पर भी सोचना आवश्यक है कि आखिर समाज को विश्वविद्यालयों की आवश्यकता किसलिए है, और उन से क्या अपेक्षाएं हैं?

सभी महान शिक्षा–शास्त्रियों का मानना रहा है कि विद्यार्थीजीवन में सब को उस की प्रतिभा और रुचि के अनुसार ज्ञान, खेलकूद के साथ साहित्यिक–कलात्मक अवसर मिलने चाहिए। किंतु इस में राजनीतिक सक्रियता हर तरह से घातक है। वह विद्यार्थी के समय का दुरुपयोग के सिवा ऐसे जटिल क्षेत्र में हाथ डालना भी है जिसकी सच्ची समझ अबोध किशोरों को नहीं होती। नहीं हो सकती। इसीलिए

कई नाबालिग और अपरिपक्व युवा बिना सचाई जान अबूझ नारे और लफ्फाजियाँ दुहराते वर्षों बर्बाद कर देते हैं। तब पता चलता है कि उन्होंने आकर्षक दिखने वाले विचारों के सम्मोहन में स्वयं को भी पूर्णतः मूर्ख बनाया। कि निहित राजनीतिक स्वार्थों ने उनका उपयोग अपने अस्त्र–शस्त्र के रूप में किया।

अतः ठंढे दिमाग से विचार करें कि छात्र जीवन में राजनीतिक गतिविधियों में पड़ने की आवश्यकता ही क्या है? राजनीतिक अभ्यास के नाम पर विश्वविद्यालयों को मतवादी अंधविश्वास, वामपंथी लफ्फाजी या दादागिरी की आरामगाह बनाना किस के हित में है? जेएनयू का इतिहास इस का स्पष्ट उत्तर देता है।

फिर, क्या अधिकांश शिक्षक, माता–पिता और छात्र चाहते भी हैं कि कॉलेज–विश्वविद्यालयों में राजनीति की नर्सरी चले? यदि नहीं, तो फिर क्यों शिक्षा केंद्रों में राजनीतिक प्रचार, अभियान, आदि की छूट दे दी गई है? देश का जनमत इस के पक्ष में बिलकुल नहीं है।

अधिकांश विश्वविद्यालय राजनीति से ग्रस्त होकर चौपट हो रहे हैं। लंबे समय से पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश, दिल्ली, कर्नाटक और केरल आदि में कई स्थानों पर छात्र–राजनीति के नाम पर हिंसा और उत्पात होता रहा है। कई जगह छात्र–संघ चुनाव पर ही प्रतिबंध लगाना पड़ा।

वामपंथी विचारधारा वाली छात्र–राजनीति भी बेहतर नहीं, बल्कि और हानिकारक है। यह जेएनयू का हाल साफ दिखाता है। वे विचारधारा के नाम पर घोर अज्ञान, मिथ्याचार, देश–द्रोह, अलगाववाद और हिंसक तानाशाही का प्रचार करते हैं। उस प्रचार की हानि तुरत समझ में नहीं आती। विश्वविद्यालय के अधिकारी अपने अज्ञानवश उसे वैचारिक स्वतंत्रता के नाम पर तह दे देते हैं। जबकि विचारधाराग्रस्त छात्र नेता कुछ दलीय पुस्तिकाओं से अधिक उन विचारों के बारे में शायद ही कुछ जानते हैं, जिन का उत्साहपूर्वक प्रचार करते रहते हैं। जिन नारों, कल्पनाओं के प्रचार में छात्र लगे रहते हैं, उस का गंभीर अध्ययन वे कभी नहीं करते। इस मामले में वे तालिबानों, जिहादियों से बेहतर नहीं, जो अपनी राजनीति के बारे में अपनी ही कही बातों के सिवा कुछ नहीं जानते।

अतः किसी भी तरह से देखें, विश्वविद्यालय राजनीतिक अभ्यास के स्थान न हैं, न होने चाहिए। वहाँ राजनीतिक किस्म के छात्रसंघ के पक्ष में एक भी ढंग की दलील नहीं है कि आखिर विद्याध्ययन के बदले राजनीतिक ट्रेनिंग क्यों होनी चाहिए?

ले–देकर एक तर्क दिया जाता है कि इस से आगे राजनीतिक जीवन का प्रशिक्षण मिलता है। इस का भी सीधा अर्थ यही हुआ कि अभी, छात्र–जीवन में, इस की कोई जरूरत नहीं। वैसे भी, विश्वविद्यालयों में कुछ अधिकारी छात्रों की समस्या का समाधान करने के लिए ही नियुक्त होते हैं। फिर लोकतंत्र में हरेक को मीडिया, न्यायालय, सूचना अधिकार, आदि विविध माध्यम से अपने अधिकार पाने के पर्याप्त साधन और अवसर उपलब्ध हैं।

तब शिक्षा ग्रहण करने के मूल्यवान काल, और कच्चे मस्तिष्क वाले किशोर–युवाओं के लिए राजनीतिक अभ्यास का कोई तर्क नहीं बचता। सच्चाई यह है कि विश्वविद्यालयों में चुनावी अखाड़ेबाजी की जरूरत केवल दलीय, विशेषकर वामपंथी राजनीति को है। इस में उसका संकीर्ण स्वार्थ है, जिस का सामाजिक, राष्ट्रीय और विद्यार्थियों के हितों से कोई लेना–देना नहीं।

यह कड़वी सचाई दूसरी ओर से भी देखी जा सकती है। अर्थात्, उच्च शिक्षा में गिरावट की दृष्टि से। इस बात से कि देश के लगभग तीन सौ विश्वविद्यालयों में असली काम की क्या स्थिति है? भारतीय विश्वविद्यालयों के सबसे बड़े संगठन एसोसियेशन ऑफ इंडियन यूनिवर्सिटीज की पत्रिका यूनिवर्सिटी न्यूज में प्रकाशित एक लेख के अनुसार, हमारे विश्वविद्यालयों में सर्वोच्च शोध–डिग्री के लिए हो रहे काम की हालत यह है कि ८० % पीएच.डी. थीसिस नकली, कूड़ा और दूसरों की नकल होते हैं। यह उदाहरण हमारे विश्वविद्यालयों की रुग्ण स्थिति का संकेत है। हम कब तक इस से अनजान होने का नाटक करते रहेंगे?

मोदी को नीचा दिखाने के लिए अनेक सशक्त राजनीतिक दल और अनुभवी नेता लगे हुए हैं। इसलिए विश्वविद्यालय प्रोफेसरों को अपने असली काम, शिक्षा और शोध की गुणवत्ता की ही चिन्ता करनी चाहिए थी। देश उन्हें इसी के लिए ऊँची तनख्वाह देता है। कभी उन्हें इस पर ध्यान देना चाहिए कि हमारे उद्योग, तकनीक, व्यापार विश्व–स्तर को छू रहे हैं। किन्तु हमारे कई विश्वविद्यालय अपनी पहले वाली स्थिति से भी नीचे गिर गए। क्या चिंता का विषय केवल यह नहीं होना चाहिए?

जहाँ तक जेएनयू की बात है तो यहाँ राजनीतिक गतिविधियों पर अविलंब रोक लगानी आवश्यक है। इसी से स्वयं छात्रों, शिक्षकों का भी भला होगा। यही १९४८ में डॉ. राधाकृष्णन शिक्षा आयोग की अनुशंसा भी थी! उसी आयोग की रपट के आधार पर यू.जी.सी. तथा आगे विश्वविद्यालयों के ढाँचे बने थे। छात्र संघों को

केवल सांस्कृतिक, साहित्यिक, खेल–कूद तथा कलात्मक कार्यों के लिए प्रेरित करना चाहिए । वस्तुतः इन्हीं से उन का व्यक्तित्व निखरेगा, और आत्मिक सुख भी महसूस होगा । इस की तुलना में राजनीतिक गतिविधियों में वे ऐसे काम में लगते हैं जिस की उन्हें सही समझ हो ही नहीं सकती । क्योंकि राजनीतिक समझ देश–दुनिया के ज्ञान के साथ–साथ पर्याप्त जीवन अनुभव की भी माँग करती है । वह छात्रों को हो ही नहीं सकती । इसीलिए, वे नशाखोरी की तरह प्रायः वामपंथी, रेडिकल बहकावे के शिकार, वैचारिक नशेड़ी से हो जाते हैं । यह उन के बौद्धिक विकास को बाधित करता है ।

अभी देश का मूड ऐसा है कि विश्वविद्यालयों में छात्रों, शिक्षकों को राजनीतिक गतिवधियों से दूर रखने के निर्णय का स्वागत ही होगा । फिर इस से किसी बड़े राजनीतिक दल को बुनियादी हानि भी नहीं है । इसलिए यह सरलता से लागू भी होगा । जेएनयू में तो किसी बड़े, मँझोले या क्षेत्रीय दलों के छात्र संगठनों की कोई औकात भी नहीं है । केवल माओवादी, मार्क्सवादी, कम्युनिस्ट वहाँ लगभग संपूर्ण कब्जा रखते हैं । वे घोर हानिकारक हैं, यह देखने के लिए हमारे माननीय सांसद क्या कश्मीर, असम या बंगाल के देश से छिन जाने का इंतजार करेंगे? क्योंकि आखिर वैचारिक रूप से, नारेबाजी में, पोस्टर में, सभा–सेमिनार द्वारा तो जेएनयू का छात्र संघ और प्रो. रोमिला थापर और प्रो. कमलमित्र चिनाय जैसे अनेक कम्युनिस्ट प्रोफेसर भारत का कई बार विखंडन कर चुके हैं ।

